ऐतरेय उपनिषद्

[भाषाभाष्य विवरणसहित]

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

अध्यक्ष-स्वाध्यायमंडळ, साहित्य वाचस्पति, गीतालंकार

प्रथम वार

मूल्य ॥) आने

प्रकाशक : व. श्री. सातवळेकर, बी. ए.
स्वाध्याय-मंडल, आनंदाश्रम,
किल्ला-पारडी, (जि. सूरत)

मुद्रक : व. श्री. सातवळेकर, बी. ए.
भारतमुद्रणालय, आनंदाश्रम,
किल्ला-पारडी, (जि. सूरत)

ऐतरेय उपनिषद्

की

भूमिका

ऐतरेय ऋषि।

ऐतरेय ऋषिका नाम ऋग्वेदी शाखाओंमें सुप्रसिद्ध है। ऋग्वेदका ब्राह्मण और आरण्यक 'ऐतरेय' नामसे प्रसिद्ध है। यह ऐतरेय एक बडा भारी विद्वान् ऋषि था। श्री सायणाचार्यने लिखा है कि 'इतरा' नामकी एक स्त्रीसे इसका जन्म हुआ इसलिये इसका मातृक नाम 'ऐतरेय' हुआ। ऐतरेय आरण्यकमें कहा है-

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः।

ऐ० आ० २।१।८;२।३।७

इस पर सायण भाष्य ऐसा है- 'इतराख्यायाः कस्याश्चित् स्त्रिया अपत्यं ऐतरेयः स च नाम्ना महिदासः। तादृशो महर्षिः।' इस तरह इसको महर्षि कहा है। छांदोग्य उपनिषदमें इसका नाम आया है-

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः। स किं म एत-दुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति, स ह षोडशं वर्षशत-मजीवत्प्र ह षोडश वर्षशतं जीवति य एवं वेद।

छां० उ० ३।१६।७

" यह पुरुष यज्ञ का प्रकरण जाननेवाला विद्वान् महिदास ऐतरेय कहता है कि हे 'रोग! तू मुझे क्यों ऐसी पीडा दे रहा है? मैं इससे मरने-वाला नहीं हूं। मैं नहीं मरूंगा।' ऐसा कहकर महिदास ऐतरेय ११६

वर्ष जीवित रहा। जो यह जानता है वह भी एकसो सोलह वर्ष जीवित रह सकता है।" यज्ञमय जीवन करनेसे वह एकसो सोलह वर्ष तक जीवित रहा।

स्कंद पुराण १।२।४२ में इसका वृत्तांत इस तरह दिया है। हारीत ऋषिके वंश में मांडूकी ऋषि की स्त्री इतरा थी। इसका यह पुत्र है। यह बालपनसे मंत्रजप करता था, पर किसीसे कुछ भी बोलता नहीं था। सदा मंत्रमें मग्न रहता था। यह पुत्र बोलता नहीं, पढता नहीं इसलिये माण्डूकि ऋषिने दूसरी पिंगा स्त्रीसे दूसरा विवाह किया। इस पिंगासे उस ऋषिको चार पुत्र हुए। वे बडे विद्वान् थे। इसलिये पिंगा पर उस ऋषिका प्रेम अधिक होने लगा और उन पुत्रोंका संमान भी अधिक होने लगा। यह देखकर इतरा अपने पुत्र महिदाससे बोली, कि 'हे पुत्र ! तुम्हारे अन्दर विद्या न होनेके कारण तुम्हारा पिता मेरा भी अपमान करता है। इसलिये मैं अब देह त्याग करती हूं। मर जाती हूं।' यह सुनकर महिदासने उसे यथार्थ धर्म का उपदेश किया और आत्मनाश करनेके अविचारसे अपनी माताको निवृत्त किया। तपस्यासे महिदास ज्ञानी हुआ। कोटितीर्थ स्थानमें राजा हरिमेधके यज्ञमें इसने वेदका प्रवचन किया। तब उसकी विद्या देख-कर सब लोग चकित हो गये। हरिमेध राजा तो अत्यंत संतुष्ट हुआ और उसने अपनी पुत्रीके साथ ही इसका विवाह किया।

इसके नामसे ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यक ये दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। महिदास ऐतरेय को श्री सत्यव्रत सामश्रमीजीने शूद्र कहा है। पर वह सत्य नहीं है। इस विषयमें पं दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत देहली जीका एक लेख वैदिक धर्म १९४९ फर्वरीके अंकमें छपा था। उस लेखसे आवश्यक भाग हम यहां उध्दृत करते हैं।

क्या महिदास शूद्र थे ?

'निरुक्तालोचन' 'ऐतरेयालोचन' आदिके प्रणेता श्रीसत्यव्रत सामश्रमी महाशयने अपने ग्रन्थ 'ऐतरेयालोचन' के १३--१४ पृष्ठमें 'ऐतरेय ब्राह्मण'

के प्रवक्ता ' ऐतरेय महिदास ' को किन्हींके अनुमानसे ' शूद्र ' माना है। इसी मतका अनुसरण आजके बहुतसे विद्वानोंने किया है। पर यह भ्रममात्र है।

इतरायाः अपत्यं ऐतरेयः।

' ऐतरेय ' की इस शांकर भाष्यकी व्युत्पत्तिको देखकर कई उसे शूद्र माननेके भ्रममें पड जाते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं। वह इतरा नामकी स्त्रीका पुत्र था, इतरा (शूद्रा) का नहीं। इसे संस्कृतमें यों कह सकते हैं-

' स इतरायाः पुत्र आसीद् न तु इतरस्याः '।

' इतर ' शब्द सर्वनामतामें अन्य वा नीच आदिवाचक है। उसका स्त्रीलिंग ' एस् ' में ' इतरस्याः ' प्रयोग बनता है ' इतरायाः ' नहीं। स्वामी श्रीशंकराचार्यने भी ' इतरायाः पुत्रः ' यह विग्रह किया है- नकि ' इतरस्याः पुत्रः '। श्रीसायणाचार्यने भी ' ऐतरेय ब्राह्मण ' की भाष्य भूमिकामें ' इतरायाः पुत्रः ' यही विग्रह किया है ' इतरस्या पुत्रः ' नहीं। श्रीसामश्रमीने भी ' ऐतरेयालोचन ' ' निरुक्तालोचन ' में उक्त व्युत्पत्तिही अनूदित की है। इससे ' ऐतरेय ' की माताकी ' इतरा ' यह संज्ञा (नाम--विशेष) सिद्ध हो जाती है, नकि ' शूद्रा ' की पर्यायवाचकता।

तभी महाभाष्यमें कहा है—

संज्ञोपसर्जने च विशेष अनातिष्ठते। (१।१।२६)

यहांपर कैयटने लिखा है-

' सर्वनामकार्यं अन्तर्गणकार्यं च सर्वनाम-
प्रयुक्तानामेव भवति, न तु संज्ञोपसर्जनानाम्।

इस विषयमें श्रीभट्टोजिदीक्षितने स्पष्टता भी की है-

संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः। महासंज्ञाकरणेन तदनुगुणानामेव गणे सन्निवेशात्। अतः संज्ञाकार्यमन्तर्गणकार्यं च तेषां न भवति। ' सर्वो नाम कश्चित् तस्मै सर्वाय देहि ' इस प्रकार संज्ञा होनेसे सर्वनामसंज्ञाका निषेध हो जानेपर ' इतराया अपत्यम् ' इस विग्रहकी सार्थकता हुई। नहीं तो ' इतर-

स्या अपत्यम् ' यह विग्रह होता; पर वह विग्रह यहां किसीने भी नहीं किया। इस प्रकार जब ' इतरा ' यह महिदासकी माताकी संज्ञा अर्थात् नामविशेष सिद्ध हुआ; तब उसका पुत्र महिदास शूद्र कैसे हो सकता है ? ' इतर ' शब्द शूद्रका पर्यायवाचक भी नहीं है। श्रीसत्यव्रत सामश्रमीने ' ऐतरेयालोचन ' के १४ पृष्ठमें अधमजातिकी स्त्रीका नाम तैत्तिरीयानुकूल तथा सायणके अनुसार ' परिवृक्ति ' और ' शतपथ ' के अनुसार ' पालागली ' कहा है, ' इतरा ' नहीं कहा। यहांपर तो जब ' इतरा ' यह नाम विशेष है; तब तो उसके शूद्र होनेकी भ्रान्तिही नहीं हो सकती।

यदि ' इतरा ' इस नामसेही उसे शूद्र मान लिया जाय, तब तो ' मीमांसा-दर्शन ' के भाष्यकार ' शबराचार्य ' को भी ' शबर ' नाम होने से क्या शूद्र वा अन्त्यज मान लिया जायगा ? तब तो फिर रामायणमें वर्णित मातङ्ग ऋषिको भी चाण्डाल मान लेना पडेगा। इस तरह तो ' ध्वन्यालोक ' के टीकाकार अभिनवगुप्तको भी गुप्तान्त नाम होनेसे वैश्य मान लेना पडेगा। ' मृच्छकटिक ' प्रणेता शूद्रकको भी ' शूद्रक ' नाम होनेसे शूद्र स्वीकृत कर लेना पडेगा। ' मुद्राराक्षस ' में राक्षस क्या उस नामसे वास्तवमें राक्षसही हो जायगा ? ऐसा होनेपर ही ' श्रीहर्षचरित ' में क्षत्रिय ' कुमारगुप्त ' वैश्य मान लिया जायगा। परन्तु ऐसा नहीं है। तब 'इतरा' इस नाममात्रसे उसका पुत्र महिदास भी शूद्र कैसे हो जायगा ?

इसीलिये ही सायणने ' ऐतरेय ब्राह्मण ' के भाष्यकी भूमिकामें इस विषयमें एक आख्यायिका लिखी है। वहाँ उसके ये स्पष्ट शब्द हैं– "कस्यचित् खलु महर्षेर्बह्व्यः पत्न्यो विद्यन्ते तासां मध्ये कस्याश्चिद् **इतरा** इति **नामधेयम्** । **तस्या इतरायाः** पुत्रो महिदासाख्यः कुमारः। तदीयस्य तु पितुर्भार्यान्तरपुत्रेष्वेव स्नेहातिशयो न तु महिदासे। ततः कस्याञ्चिद् यज्ञसभायां तं महिदासमवज्ञाय अन्यान् पुत्रान् स्वोत्संगे स्थापयामास। तदानीं खिन्नवदनं महिदासमवगत्य **इतराख्या** तन्माता स्वकीयकुलदेवतां

भूमिमनुसस्मार। सा च भूमिर्देवता दिव्यमूर्तिधरा सती यज्ञसभायां समागत्य महिदासाय दिव्यं सिंहासनं दत्त्वा तत्र एनमुपवेश्य सर्वेष्वपि कुमारेषु पाण्डित्याधिक्यमवगमय्य एतद् (ऐतरेय) ब्राह्मणप्रतिभासनरूपं वरं ददौ। तदनुग्रहात् तस्य महिदासस्य मनसा...चत्वारिंशदध्यायोपेतं ब्राह्मणं प्रादुरभूत्।"

सायणसे दिखलाई गई और श्रीसामश्रमीसे 'निरुक्तालोचन' एवम् 'ऐतरेयालोचन' में उध्दृत की गई इस कथासे महिदास कहीं शूद्रके पुत्र प्रतीत नहीं होते, किन्तु स्पष्टतया ब्राह्मणपुत्र वा जन्मसे ब्राह्मण सिद्ध होते हैं। पिताके एक पुत्रमें स्नेहातिशय न होनेसे वह शूद्र थोडेही हो जायगा। यह कण्ववंशप्रसूत पर्वत नामक ऋषिका पुत्र है। उसकी रात्रि और इतरा ये दो स्त्रियां थी। यह वृत्त 'वंश-ब्राह्मण' (९।५।३) निरूपित किया गया है।

केवल सायण, केवल वंशब्राह्मणही नहीं, किन्तु 'पुराण' भी महिदासके पिताको ब्राह्मण कह रहा है। जैसे कि–

काश्चिद् द्विजो महाप्राज्ञस्तपस्तप्त्वा कथंचन।
पुत्रमेकं तथोत्पाद्य संस्कारैश्च यथाक्रमम्।
योजयित्वा यथाकालं कृतापनयनं पुनः॥
अध्यापयामास तदा स च नोवाच किञ्चन।
न जिह्वा स्पन्दते तस्य दुःखितोऽभूद् द्विजोत्तमः॥
वासुदेवेति नियतमैतरेयो वदत्यसौ।
पिता तस्य तथा चान्यां परिणीय यथाविधि॥
पुत्रानुत्पादयामास तथैव विधिपूर्वकम्।
वेदानधीत्य सम्पन्ना बभूवुः सर्वसम्मताः॥
ऐतरेयस्य सा माता दुःखिता शोकमूर्च्छिता।
उवाच पुत्राः सम्पन्ना वेदवेदाङ्गपारगाः॥
ब्राह्मणैः पूज्यमाना वै मोदयन्ति च मातरम्।
मम त्वं भाग्यहीनायाः पुत्रो जातो निराकृतिः॥

ममात्र निधनं श्रेयो न कथञ्चन जीवितम् ।
इत्युक्तः स च निर्गम्य यज्ञवाटं जगाम वै ॥
तस्मिन् प्राप्ते द्विजानां तु मन्त्रो न प्रतिपेदिरे ।
ऐतरेये स्थिते तत्र ब्राह्मणा मोहितास्तदा ॥
ततो वाणी समुद्भूता वासुदेवेति कीर्तनात् ।
ऐतरेयस्य ते विप्राः प्रणिपत्य यथातथम् ॥
पूजां चक्रुस्ततो यज्ञं स्वयमेव जगाम वै ।
ततः समाप्य तं यज्ञमैतरेयो धनादिभिः ॥
सर्ववेदान् सदस्याह सषडङ्गान् समाहितः ॥ "

(लिङ्गपुराण-उत्तरार्ध ७।१७-२६)

यहांपर ऐतरेय (महिदास) को स्पष्टही ब्राह्मण बताया गया है। जिह्वामें रोगविशेषसे अस्पन्दनवश किसीकी शूद्रता नहीं हो जाती । ब्राह्मणेन प्रोक्तम्, ब्रह्मणा वा प्रोक्तम् ' इस प्रकार ' ब्राह्मण ' ग्रन्थकी किन्हींसे की जाती हुई व्युत्पत्ति भी स्पष्टतया ऐतरेय महिदासको ब्राह्मण सिद्ध कर रही है।

श्रीसत्यव्रतसामश्रमी महाशयने जोकि ' महिदास ' का दासान्त नाम देखकर उसके जन्मसे ब्राह्मण होनेमें सन्देह प्रकट किया है, यह भी ठीक प्रतीत नहीं होता । ' शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद् राज्ञो रक्षासमन्वितम् । वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् । ' (मनु० २।३२) यहां नामसे पृथक्ही शर्मा-दास आदिका सङ्केत बताया गया है ।

सायणसे प्रदर्शित आख्यायिकासे विज्ञ पाठकोंने समझ लिया होगा कि ऐतरेयकी कुलदेवता भूमि थी । उसीका पर्यायवाचक ' मही ' शब्द है । उस महीका दास (सेवक) होनेसे ' मह्या दासः ' यह विग्रह होकर ' ऐतरेय ' का ' महिदास ' यह नाम हुआ, क्योंकि उस महिदासने दिव्य-

मूर्तिवाली भूमि (मही) द्वाराही ' ऐतरेय--ब्राह्मण ' प्राप्त किया । अतएव ऐतरेयकी ' महिदास ' यह संज्ञा हुई । तभी 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् ।' (पा० ६।३।६३) इस सूत्रसे संज्ञा होनेसे ' कालिदास ' की तरह ' महिदास ' में भी ह्रस्व हो गया ।

' महिदास ' में ' दास ' शब्द भी नामके अन्तर्गत है, सम्पूर्ण नामसे पृथक् नहीं । अर्थात् उसका सम्पूर्ण नामही ' महिदास ' इस प्रकार चार अक्षरोंवाला था, ' मही ' इन दो अक्षरोंवाला उसका नाम नहीं था । तो उस ' दास ' शब्दसे उसकी शूद्रता कभी भी व्यक्त नहीं हो सकती । तब उसके ब्राह्मणत्वको द्योतन करनेके लिये ' महिदासशर्मा ' इस प्रकार 'शर्मा' चतुरक्षर नामसे पृथक् लिखना पडेगा । महिदास (ऐतरेय) अपनी कुल-देवता ' मही ' (पृथिवी) का उपासक होनेसे उसका दास होनेके कारण ' महिदास ' इस नामसे प्रसिद्ध था । पूर्व कहे प्रमाणोंसे ब्राह्मणपुत्र होनेसे ' सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या ' (महाभाष्य ४।१।६३) । इस प्रमाणसे ब्राह्मण-जातीय ही था । उसकी माताका ' इतरा ' यह नामही था । इसीलिए ' निरुक्तालोचन ' में श्रीसत्यव्रत--सामश्रमीने स्वयं स्वीकृत किया है कि- ' इतरा-इति प्रसिद्धायाः कस्याश्चिदपि ऋषिरमण्याः पुत्रेण इदं प्रोक्तमिति ' (वेदकालनिर्णय २१८ पृष्ठ) । माताके नामके कारण महिदासकी ' ऐतरेय ' यह प्रसिद्धि है । जब वह ब्राह्मणका पुत्र सिद्ध है और सामश्रमीजीने वैसाही माना है; तब वह शूद्र क्यों माना जाए ?

दासान्ततासे शूद्र माननेपर तो महान् अनर्थ हो सकता है । गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी रामायणके कर्ता ब्राह्मण थे; तब दासान्त नाम होनेसे उन्हें भी शूद्र मानना पडेगा । इसी प्रकार ब्राह्मण कालिदासको भी दासान्त होनेसे शूद्र मानना पड जाएगा । परन्तु ऐसा नहीं है । 'पहले दिवोदास तथा सुदास क्षत्रिय हो चुके हैं; तब तो दासान्त होनेसे वे दोनोंही शूद्र माने जाएंग । ' मुद्राराक्षस ' के पात्र वैश्य मणिकार ' चन्दनदास ' को भी फिर शूद्र मानना पड जायगा ।

शेष प्रश्न यह है कि-- उसके नामके साथ ' शर्मा ' का प्रयोग क्यों नहीं; यदि वे ब्राह्मण हैं— इस विषयमें यह जानना चाहिये कि--एतदादिक सब कृत्य ब्राह्मणोंके अधीन थे। सभी वर्ण अपने--अपने कर्ममें व्याप्त थे। तब शर्मा आदिके साथ न होनेपर भी कोई भ्रम सम्भव न था, इस कारण वहां ' शर्मा ' यह विशेषण देनेकी आवश्यकता भी नहीं थी। नहीं तो ' शुक्ल-यजुर्वेद ' के आविष्कारक याज्ञवल्क्यके नामके साथ, एवमन्यान्य शौनक, पाणिनि आदिके नामोंके साथ शर्मा आदि चिह्नोंके प्रयुक्त न होनेसे क्या उन सबको शूद्र मान लिया जाए ? यदि ऐसा नहीं, तब " यहांपर ' विद्वान् महिदास ' लिखा है, ब्राह्मण या ऋषि महिदास नहीं, इस कारण वह शूद्र है " इस प्रकार श्रीसामश्रमीजीका कथन कुछ महत्त्व नहीं रखता।

सामश्रमीजीने यह जो लिखा है कि-- ' यदि महिदासके नामके साथ ' ऋषि ' शब्द प्रयुक्त होता; तब महिदासको ब्राह्मण समझा जाता ' यह उपपत्ति कोई महत्वपूर्ण नहीं। 'ऋषि' मन्त्रद्रष्टा हुआ करते हैं। पर जब कि महिदास मन्त्रद्रष्टा नहीं; तब उसे अबाधित रूपसे ऋषि कैसे कहा जाता ? यदि सामश्रमीजीके अनुसार ' ऋषि ' होनेसे ब्राह्मणता होती है, पर अब महिदासके ऋषि न होनेसे वह ब्राह्मण नहीं; तब कवषको सामश्रमीजी क्यों ब्राह्मण नहीं मानते, वह तो ' ऋषि ' माना जाता है और प्रसिद्ध मन्त्रद्रष्टा है। परन्तु सामश्रमीजी उसे शूद्र मानते हैं; तब उनकी यह युक्ति स्वमतसे भी विरुद्ध हुई। ' ऋषि ' शब्दसे वस्तुतः मन्त्रद्रष्टाका बोध होता है ' ब्राह्मणका नहीं। ' यद् ब्रह्मभिः (ब्राह्मणैः) यद् ऋषिभिः, यद् देवः ' (अथर्व० ६।१२।२) इस मन्त्रमें ब्राह्मण तथा ऋषि एवं देवको पृथक् पृथक् कहा है। इससे स्पष्ट है कि-- ' ऋषि ' शब्दसे ब्राह्मणता नहीं जानी जाती। '

श्रीसामश्रमीजीने ' ऐतरेय '--जोकि महिदासका पर्याय है—में ' स्त्रीभ्यो ढक् ' (पा० ४।१।१२०) इस सूत्रसे अथवा ' शुभ्रादिभ्यश्च ' (पा० ४।१।१२३) इस सूत्रसे ढक् प्रत्यय मानकर ' इतरा ' नामकी माताके नामसे

प्रसिद्ध होनेसे, पिताका नाम न प्राप्त कर महिदासका शूद्र होना अनुमित किया है; यह भी अनुमान व्यभिचारी है। बहुतसे प्राचीन पुरुषोंके नाम माताके नामसे भी देखे गये हैं, उसका कारण है ' **सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते** ' (मनु० २।१४५) इत्यादि शास्त्रीय वचनोंका अनुसरण। तब क्या ऐसे व्यक्तियोंको शूद्र मान लिया जाए ? ' महाभाष्य ' में श्री पाणिनिको कई वार ' दाक्षीपुत्र ' इस प्रकार माताके नामसे कहा है। श्रीपतञ्जलि अपने आपको 'गोणिका पुत्रः' इस प्रकार बहुत स्थलोंमें अपनी माताके नामसे कहते हैं। ' सौमित्रि ' यह लक्ष्मणके लिए, ' गाङ्गेय ' यह भीष्मके लिए, ' कौन्तेय ' यह युधिष्ठिरके लिए, ' सौभद्रेय ' यह अभिमन्युके लिए प्रसिद्ध है। तब क्या ये सब शूद्र थे ? यदि नहीं, तब यह उपपत्ति महिदासके शूद्र बनानेमें सर्वथा निर्बल सिद्ध हुई। यह पर्वत नामक ब्राह्मण ऋषिका पुत्र है-- यह पहले बतलाया जा चुका है। वह ' ऐतरेय ब्राह्मण ' का प्रवक्ता है। ' ब्राह्मण ' की व्युत्पत्तिही यही है कि- ' ब्राह्मणेन प्रोक्तम् '। यदि वह शूद्र था; तो तत्प्रोक्त पुस्तककी ' ब्राह्मणम् ' यह संज्ञा कैसे हुई ? पहले पुराणके वचनसे भी उसके पिताको द्विज (ब्राह्मण) बतलाया जा चुका है।

इस तरह महिदास ऐतरेय ऋषि थे, ब्राह्मण थे, बडे विद्वान् थे। इसी लिये ऐतरेय ब्राह्मणकी तथा ऐतरेय आरण्यककी रचना वे कर सके। यह ऐतरेय उपनिषद ऐतरेय आरण्यकका ही भाग है। और यह उपनिषद ऋग्वेदका उपनिषद् है।

ऐतरेय उपनिषद्का आशय।

प्रथम अध्याय

लोक और लोकपाल

१ प्रथम खण्ड-- (१) प्रारम्भमें एक ही परमात्मा था। दूसरा कुछ भी आंखोंकी पलकें खोलने या मिटनेवाला नहीं था। (२) उस परमात्म

ने सोचा कि मैं अब लोकोंको निर्माण करूं। उसने ये लोग निर्माण किये— अम्भो लोग जो द्युलोकके ऊपर है, दूसरा मरीची लोक जो शुद्ध प्रकाशमय है, तीसरा मृत्यु लोक और चौथा आप् लोक। (३) उसने फिर सोचा और कहा कि अब ये चार लोक तो बने। अब इन पर शासन करनेवाले लोकपालोंको मैं निर्माण करूंगा। उसने उसी समय जलसे एक मूर्ति निर्माण की वह विराट् बडो-अण्डके समान हुई। (४) उसको तपाया, उसके तप जानेसे उसमें मुख हुआ, मुखसे वह बोलने लगा, वाणीके स्थानमें अग्नि लोकपाल हुआ। इसी तरह उसमें नासिका हुई, नासिकासे प्राण और प्राणके स्थानमें वायु लोकपाल हुआ—उसमें आंखें बनीं, आंखोंसे वह देखने लगा और वहांसे सूर्य निर्माण हुआ। कान निर्माण हुए, कानसे वह सुनने लगा और वहांसे दिशाएं हुईं। त्वचा निर्माण हुई, त्वचामें लोम हुए और वहांसे वनस्पतियां बनीं। हृदय बना, हृदयसे मन और वहांसे चन्द्रमा हुआ। नाभी निर्माण हुई, नाभीसे अपान और अपानसे मृत्यु हुआ। शिस्न हुआ, वहांसे रेत और वहांसे जल बना।

इस तरह उस अण्डेसे ये आठ लोकपाल बने। वह अण्डा ब्रह्माण्ड जैसा विशाल ही था। और उसमें ये आठ देवताएं रहने लगी। यही विराट् पुरुष है।

लोकपालोंके लिये स्थान।

२ द्वितीय खण्ड— ये देवताएं बनीं, विश्व समुद्रमें ये पडीं, उनके पीछे भूख प्यास लगी। तब इन देवताओंने परमात्मासे कहा कि हमें कुछ स्थान तो कर दो, कि जहां बैठकर हम अन्न तो खायें ॥ १ ॥ परमेश्वरने उन देवताओंके रहनेके लिये गौ, बैल, घोडा आदिके शरीर उनके सामने लाये। उनको देखकर देवोंने कहा कि ये अच्छे नहीं हैं ॥ २ ॥ पश्चात् परमात्माने मनुष्य शरीर उनको दिखलाया, तब उन्होंने कहा कि यह तो बडाही अच्छा है। परमेश्वरने कहा कि, यदि यह अच्छा है तब तो तुम इसमें अपने योग्य

स्थान पर जाकर रहो ॥ ३ ॥ वे देवताएं सूक्ष्म रूप धारण करके उस मानव शरीरमें रहने लगीं। अग्नि वाणी बनकर मुखमें रहने लगा और इसी तरह वायु-सूर्य-दिशा-वनस्पति-चन्द्रमा-मृत्यु-आप्- ये देवताएं प्राण-चक्षु-श्रवण-लोम मन-अपान-रेत का रूप लेकर नासिका-नेत्र-कान-त्वचा-हृदय-नाभी-शिस्न- के स्थानमें क्रमशः रहने लगीं ॥ ४ ॥ भूख और प्यास इनके पीछे लगीं। जब अन्न लिया जाता है तब भूख और प्यासका भाग उसमें होताही है ॥ ५ ॥

लोकपालोंके लिये अन्न

३ तृतीय खण्ड— परमात्माने सोचा, ये लोक और ये लोक-पाल तो बने हैं। इनके लिये अब हम अन्न बनायेंगे ॥ १ ॥ उसने जलको तपाया, उससे एक मूर्ति बनी, वही अन्न है ॥ २ ॥ वह अन्न उत्पन्न होने पर पीछे हटने लगा। उसको वह वाणीसे लेने लगा, पर वह वाणीसे न ले सका। यदि वाणीसे ले सकता, तो अन्न का शब्द उच्चारण करके ही तृप्त हो जाता ॥ ३ ॥ इसी तरह उसने प्राण, आंख, कान, त्वचा, मन, शिस्न इनसे उस अन्नको पकडनेका यत्न किया। पर किसीसे वह उस अन्नको पकड न सका ॥ ४-९ ॥ अन्तमें उसने अपानसे अन्नको लेना चाहा, तो वह उससे ले सका। यह वायु ही अन्नको लेनेवाला है। यह वास्तविक अन्नायु है जिसे वायु कहते हैं। अन्नपर वह अवलंबित है ॥ १० ॥

आत्माका शरीरमें प्रवेश

आत्मा सोचने लगा कि क्या ये सब यहां मेरे विना भी रह सकेंगे? यदि मेरे विना वाणी बोल सके, प्राण जीवन कर सके, आंख देख सके, कान सुन सके, त्वचा स्पर्श कर सके, मन ध्यान कर सके, अपान खा सके, शिस्न वीर्य छोड सके, यदि ये सब मेरे विना अपने अपने कार्य कर सकेंगे, तो फिर मेरा क्या कार्य यहां होगा? ॥ ११ ॥ ये मेरे विना कुछ भी कर नहीं सकते इसलिये मुझे इस शरीरमें प्रवेश करना ही चाहिये। ऐसा सोचकर उस

आत्माने मस्तक के विदृतिद्वारसे अन्दर प्रवेश किया और वह जीवात्मा बनकर वहां सबको आधार देकर रहने लगा। यह विदृति नामक द्वार है। यही आनन्दका स्थान है। इसके तीन रहनेके स्थान हैं और तीन आरामके स्थान हैं ॥ १२ ॥ जन्मते ही उसने सबका निरीक्षण किया। और पूछा कि यहां मेरेसे भिन्न कोई है ? उसने वहां सर्वत्र व्यापक ब्रह्मको देखा और कहा कि मैंने इसको देख लिया। इसको देखनेके कारण इसका इन्द्र नाम हुआ। गुप्तभावसे देव उसीको इन्द्र कहने लगे क्योंकि देव गुप्तसंकेत करना पसंद करते हैं ॥ १३ ॥

द्वितीय अध्याय

सुपुत्र निर्माण

प्रथम खण्ड (क्रमसे चतुर्थ खण्ड)—

१ (४) **प्रथम खण्ड—** पुरुषमें यह गर्भ प्रथम रहता है। वह वीर्य रूप होता है। यह वीर्य पुरुषके सब अंगोंका एकट्ठा किया तेजही है। उसको पुरुष प्रथम अपनेमें ही धारण करता है। पश्चात् वह स्त्रीके गर्भाशयमें सिंचन करता है, वहां उसका जन्म होता है। पुरुषसे स्त्रीमें वीर्यका आना यह इसका पहला जन्म है ॥ १ ॥ वह वीर्य स्त्रीमें जाता है और स्त्रीके शरीरका भाग होकर वहां रहता है। इसलिये वह वीर्य किसी तरह स्त्रीको बाधा नहीं पहुंचाता। इस समय वह स्त्री इस अपने पतिके आत्माको अपने उदरमें आया है ऐसा मानकर पोषण करती है ॥ २ ॥ इस तरह वह स्त्री पुत्रका पोषण करनेके कारण विशेष पोषण करने योग्य है। इस समय वह स्त्री गर्भका धारण पोषण करती है। वह पति अपने गर्भस्थ कुमारका उसका जन्म होनेके पूर्व समयसे ही पोषण करता है। जो यह उसका अपने पुत्रका पोषण करना है वह अपने आपका ही पोषण करना है। यह उसका करना प्रजाकी वृद्धिके लिये है। इससे यह प्रजा फैली है। यह इसका दूसरा जन्म है ॥ ३ ॥ यह पुत्र इस पिताका प्रतिनिधि होता है, वह इसके अधूरे शुभ

कर्मोंको समाप्त करता है। इस पिताका अपना आत्मा इस तरह कृतकृत्य होकर पूर्ण आयुको प्राप्त होकर यहांसे चल बसता है। वह यहांसे जातेही पुनः जन्म लेता है। यह इसका तीसरा जन्म है। इस विषयमें ऋषिने कहा है ॥ ४ ॥ 'गर्भमें ही मैंने देवोंके इन सब जन्मोंको जाना था। सौ लोहेके कोट पहिले मेरा रक्षण करते थे। अब मैं श्येन पक्षी जैसा स्वतंत्र होकर वेगसे घूम रहा हूं।' गर्भमें रहते हुए ही वामदेव ऋषिने यह कहा है ॥ ५ ॥ वह ऐसा विद्वान् इस शरीरसे ऊपर उठकर उस स्वर्गमें सब कामनाओंके भोग भोगकर अमर बन गया ॥ ६ ॥

तृतीय अध्याय

ज्ञानरूप ब्रह्म

प्रथम खण्ड (क्रमसे पंचम खण्ड)

१ (५) **प्रथम खण्ड**— जिसकी हम उपासना करते हैं वह कौन आत्मा है? वह दो मेंसे कौनसा है? जिससे रूप देखता है, जिससे शब्द सुनता है, जिससे गन्ध संघता है, जिससे शब्द स्पष्ट उच्चारता है, जिससे मीठा और मीठा नहीं ऐसा स्वाद जानता है वह कौन है ॥ १ ॥ जो यह हृदय है वह मन ही है। उत्तम ज्ञान, आज्ञा करनेका भाव, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धैर्य, मति, इच्छा, शीघ्रता, स्मृति, संकल्प, यज्ञ, प्राण, काम, स्वाधीनता ये सबही प्रज्ञानके नाम हैं। एकही प्रज्ञाके ये सब रूप है ॥ २ ॥ यही प्रज्ञान ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, सब देवता, पञ्चमहाभूत, अर्थात् पृथिवी, आप्, तेज, वायु, आकाश, ये क्षुद्र मिश्र जीव, ये बीज, अण्डज, जारज, स्वेदज, उद्भिज्ज, घोडे, गौवें, पुरुष, हाथी, जोभी कुछ प्राणी रूप यहां है, स्थावर, जँगम, उडनेवाला, जो भी है वह प्रज्ञानसे चलता है, प्रज्ञानमें उसका आधार है, सब लोक प्रज्ञानेत्र हैं, प्रज्ञा ही सबकी प्रतिष्ठा है, यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है ॥ ३ ॥ वह वामदेव इस प्रज्ञानसे अपने आपको इस

लोकसे ऊपर उठाकर उस स्वर्गमें सब कामनाओंका भोग करके अमर होगया ॥ ४ ॥ यहां ऐतरेय उपनिषद् समाप्त

× × ×

संक्षेपसे ऐतरेय उपनिषद का भाव यह है कि—

१ प्रारंभमें एक परमात्मा था दूसरा कुछभी नहीं था। उसने अम्भ, मरीची, पृथिवी और आप ये चार लोक उत्पन्न किये।

२ उस परमात्माने जल को उष्णता दी, उससे बड़ाभारी अण्डा उत्पन्न हुआ। वह फट गया और अग्नि, वायु, सूर्य, दिशा, वनस्पति, चंद्रमा, मृत्यु और आप ये आठ लोकपाल उससे प्रकट हुए।

३ इन लोकपालोंको रहनेके लिये स्थान देनेके हेतुसे उन्होंने अनेक देह बनाये। अन्तमें मानव देह निर्माण किया। वह उत्तम हुआ ऐसा देखकर इन आठ लोकपालोंने वहां रहनेके लिये अपने अंश भेजे, वे क्रमशः वाणी, प्राण, नेत्र, कर्ण, त्वचा, मन, नाभि और शिस्नमें रहने लगे। वहां इन को भूख और प्यास लगने लगी।

४ परमात्माने इनके लिये अन्न तैयार किया। उस अन्न को खानेका यत्न सब लोकपालोंने किया, पर कोई न खा सका, केवल वायुने ही अन्नको पकड़ लिया और वह अन्न मुखके छिद्रसे अन्दर जाकर सब देवताओंको पहुंचने लगा।

५ परमात्मा भी अपने अंशसे इस शरीरमें प्रविष्ट हुआ वह सिरके छिद्रसे अन्दर गया। यह आनन्दका स्थान है। यह सब देखने लगा, सबको सहायता देने लगा। अन्तमें इसने एकही व्यापक आत्माको देख लिया। इस देखनेवालेको 'इन्द्र' कहते हैं।

६ अन्नसे मनुष्यके शरीरमें वीर्य होता है, वह वीर्य सब शरीरका सार है। यह स्त्रीमें जाता है। यह इसका पहिला जन्म है। पिताही गर्भमें

जाता है। वह वीर्य स्त्रीके शरीरका अंग होकर गर्भरूपसे बढता है। स्त्री उसको पुष्ट करती है। इसलिये गर्भवती स्त्रीका उत्तम पोषण होना चाहिये। पिताने वीर्यरूपमें पुत्रको पाला था। अब गर्भरूपसे स्त्रीके पेटमें पुत्रका पालन होता है। मानो यहां पिताही स्वयं अपना पालन करता है। प्रजाकी वृद्धिके लिये यह है। स्त्रीसे पुत्रका जन्म होना, यह पिताका दूसरा जन्म है। यह पुत्र पिताका इस लोकमें प्रतिनिधि है अतः वह पिताके अधूरे कार्य पूर्ण करता है, जिससे पिता कृतकृत्य होकर स्वर्गके भोग भोगकर अमर होता है।

७ जिससे मनुष्य देखता, सूंघता, सुनता है वह आत्मा है। ज्ञान आत्माका चिन्ह है। ज्ञान ही ब्रह्म है। यहां जो भी स्थावर जंगम है वह सब ज्ञानरूप ही है। ज्ञान न हुआ तो कुछभी नहीं है। यह ज्ञान जिसको प्राप्त होता है वह स्वर्गलोक के भोग भोगकर अमर हो जाता है।

\+ + +

संक्षेपसे यह ऐतरेय उपनिषद् का सार है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह महा-वाक्य इस उपनिषद् का है। प्रज्ञान ही ब्रह्म है। सब विश्व ज्ञानमें रहता है। जितना मनुष्यको ज्ञान होता है उतनाही उसके लिये विश्व है। इस कारण ज्ञानका महत्व है। विना ज्ञान के प्रगति नहीं है।

मनुष्यके तीन जन्म

पुरुषकी तैयारी

मनुष्यके तीन जन्मोंका यहां वर्णन किया है। पितामें जो वीर्य होता है वही पिताके शरीरमें 'गर्भ' है। वह वीर्य स्त्रीमें जाता है वह उस पिताका पहिला जन्म है। अर्थात् सुप्रजा निर्माण करनेकी तैयारी पिताको प्रथम करनी चाहिये। पिताको यह ध्यानमें रखना चाहिये, यह पुत्र होना मेरा ही जन्म है। इसलिये मैं अपनी जैसी योग्यता करूंगा, वैसा मेरा पुत्र होगा, अर्थात् मैं ही पुत्ररूपसे जन्म लूंगा। प्रत्येक पिताको यह ज्ञान प्राप्त

करना चाहिये । जैसा मैं होऊंगा वैसा मेरा पुत्र होगा । पुरुषके वीर्यमें अन्तःकरण समेत सब देहका सार आता है, अतः यदि पिता रोगी, निर्बल, निर्बुद्ध, संस्कारहीन होगा, तो उसके वीर्यमें वैसे दोष आजायंगे और पुत्र भी वैसा ही निकम्मा जन्मेगा। इसलिये पुत्रजन्मके पूर्व पिताको अपनी तैयारी करनी चाहिये और अपना वीर्य निर्दोष, तेजस्वी, प्रभावी और ओजस्वी बनाना चाहिये ।

स्त्रीका महत्व

पश्चात् वह वीर्य स्त्रीमें जाता है । वहां स्त्रीके शरीरका भाग बनकर नौ मास पूर्ण होनेतक रहता है। माताके शरीर और अन्तःकरणके सब दोष इस समय संतानमें उतरते हैं । इस कारण माताको भी सुशील, सदाचारयुक्त, धार्मिक और सत्प्रवृत्त होना चाहिये । तथा शरीरसे हृष्ट-पुष्ट होना चाहिये । इसलिये इस उपनिषदने कहा है कि (सा भावयित्री भावयितव्या भवति) वह स्त्री गर्भका पोषण करती है, इसलिये उस स्त्रीका पोषण अच्छी तरहसे होना चाहिये । किसी प्रकार उस माताकी पालनामें कसूर नहीं होनी चाहिये । क्योंकि यह जातीका पुत्र है, राष्ट्रका पुत्र है, यह वंश विस्तारके लिये है, जो विश्वरूपी कपडा बनाया जा रहा है, उसमें एक धागा यह है । यह वंशका तंतु टूटना नहीं चाहिये । अविच्छिन्न वंश रहना चाहिये, यही अमरपन है ।

प्रजासे अमरत्व

प्रजाभिः अग्ने अमृतत्वं अश्यां ऋ. ५।४।१०

‘ प्रजाके, संततिके, अविच्छेदसे अमरत्व है । ’ यह स्त्रीके द्वारा ही होनेवाला है । इसलिये स्त्री (भावयितव्या) का संमान होना चाहिये, स्त्रीका उत्तम पोषण होना चाहिये । स्त्रीकी प्रतिष्ठा होनी चाहिये । स्त्री न होगी तो पुरुष शरीरके वीर्यरूप गर्भका पुरुष शरीरमें ही नाश होगा । इससे तो पुरुषका संततिपरंपराका धागा ही टूट गया । पुरुषमें यह शक्ति नहीं है,

स्त्रीसे ही संतान परंपरा चल सकती है-

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः तै० उ० १।११

' प्रजातंतुको न तोडो ' यह आज्ञा दी है, उसका पालन स्त्रीके साथ रहनेसे हो सकता है। पाठक यहां स्मरण रखें कि यहां इस वैदिक कालमें प्रथम आयुके २५ वर्षतक ही ब्रह्मचर्य है। यह ब्रह्मचर्य आगे बढाकर संततिका व्यवच्छेद करना नहीं है। जो अपना अमोघ वीर्य बना है उससे अमोघ शक्तिवाला पुत्र उत्पन्न करना चाहिये। यह पितृऋण चुकाना चाहिये। उऋण होकर ही मरना चाहिये।

स्त्री अपने गर्भमें अपने पतिको ही धारण करती है। इसलिये पति गर्भवती पत्नीका संभाल करता है वह मानो अपना ही पालन पोषण करता है। गर्भवती स्त्रीका सन्मान करना और उसका पालन पोषण करना, यह कोई उस पत्नीपर उपकार करना नहीं है, यह पिता अपना ही पालन पोषण करता है। इसलिये कहा है—

स यत् कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति;
आत्मानमेव तत् भावयति, एषां लोकानां संतत्यै।

ऐ. उ. २।१।३

' जो पिता जन्मके पूर्व गर्भका पालन करता है, गर्भका पालन होनेके लिये पत्नीका पालन करता है, वह अपना ही पालन करता है, क्योंकि इससे संतति बढती है। ' पिताका प्रतिनिधि पुत्र है—

सोऽस्य अयं इतर आत्मा ... प्रतिधीयते। ऐ. उ. २।१।४

' यह जो इसका पुत्र है, वह इस पिताका प्रतिनिधि है। ' पिताका उत्तराधिकारी है, पिताके अधूरे कर्म इसे समाप्त करने हैं। इसलिये पिता अपना प्रतिनिधी स्त्रीके उदरमें तैयार कर रहा है। अपना ही दूसरा स्वरूप बना रहा है। अहा ! कितनी उत्तम कल्पना यह है। यदि यह ज्ञान प्रत्येक पिताको हो जाय, तो कितना अच्छा होगा। संतानका सुधार कितना होगा।

❀

यह उपनिषद्की विद्या संतानका उच्छेद करना नहीं चाहती, वंशका विस्तार हो और वंशमें उत्तमसे उत्तम आशिष्ट, द्राढिष्ट, बलिष्ठ पुरुष निर्माण हों ऐसी इच्छा उपनिषदकी है। इसलिये इस स्थानपर उसने कहा कि स्त्रीके उदरसे बालकका जन्म होना यह पिताका दूसरा जन्म है। पहिला जन्म वह है कि जिस समय गर्भाधान होता है और माताके उदरसे जो जन्म होता है वह पिताका दूसरा जन्म है।

कृतकृत्य पिता

पिता पुत्रको देखता है, पुत्र विद्वान और पुरुषार्थी हुआ ऐसा देखता है, उस समय उसको प्रतीत होता है कि यह मेरा उत्तम प्रतिनिधी तैयार हुआ है। मेरे कार्य अब निर्विघ्न रीतिसे सिद्ध होते रहेंगे। ऐसा सुयोग्य पुत्र हुआ है यह जो पिता देखता है वही पिता अपने आपको ' कृतकृत्य ' मान सकता है। ' कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति ' कृतकृत्य होकर पूर्ण आयुको प्राप्त हुआ पिता इस लोकसे चल बसता है ऐसा ऐ० उ० २।१।४ में कहा है। पूर्ण आयुका आनन्दसे भोग करना और कृतकृत्य होना यह भाग्य उस पिताको प्राप्त होगा, जिसको ऐसा सुयोग्य पुत्र होगा। इस उपनिषदमें दो वार अमर होनेका उल्लेख है, २।१।६ और ३।१।५ दोनों स्थानोंपर ऐसा पुत्र उत्पन्न होना और उसके सुयोग्यताको देखकर पिताका कृतकृत्य होना यह भाव स्पष्ट है। जिसको ऐसा सुयोग्य पुत्र होगा वही भाग्यशाली पिता इस तरहकी कृतकृत्यताका अनुभव कर सकता है। मरनेपर इस पिताको जो दूसरा शरीर मिलता है वह उसका तीसरा जन्म है।

शरीरकी योग्यता

इस उपनिषद्में मानव शरीरकी योग्यता विशेष है ऐसा वर्णन किया है। इस शरीरमें ब्रह्मका अंश और अन्य देवोंके अंश रहे हैं। यह शरीर देवोंका मंदिर है। यह दिव्य शक्तियोंका अधिष्ठान है। इसी शरीरसे

मनुष्यको ये दो जन्म प्राप्त हो सकते हैं और इसी शरीरसे यह कृतकृत्य और अमर बनता है।

कई लोग इस शरीरको हीन, दीन, तुच्छ, पिंजरा, कारागृह, पूयविट् मूत्रका गढा आदि करके निंदा करते हैं। उनको इस उपनिषद्ने उत्तम उत्तर दिया है और 'पुरुषो वाव सुकृतं' (१।२।३) यह मनुष्य शरीर अच्छा बना है, यह सुकृत है। यह पुण्य कर्म करनेका उत्तम साधन है। कृतकृत्य होनेका यह उत्कृष्ट साधन है। शरीरको देवतामय बताकर इस उपनिषदने उत्तम ज्ञान दिया है।

अपने शरीरसे पवित्र कर्मही होने चाहिये यह उपदेश यहां है।

एकत्व और द्वैत

प्रारंभमें 'एकही आत्मा है' ऐसा कहकर परमात्माकी एकता स्पष्ट वर्णन की है। 'कोई आंख मूंदनेवाला दूसरा नहीं था' ऐसा प्रारंभमें ही कहकर अन्य जीवोंकी सत्ताको दूर किया है, पर जड प्रकृतिकी सत्ताका निषेध हुआ है ऐसा हमें प्रतीत नहीं होता। आंखें मूंदनेवाला कोई दूसरा नहीं था। '**नान्यत् किंचन**' इतना कहते, तो प्रकृतिका भी निषेध होता। पर '**नान्यत् किंचन मिषत्**' ऐसा कहनेसे अन्य सजीव प्राणियोंका निषेध हुआ ऐसा प्रतीत होता है।

इस शरीरमें सब देवोंके अंश आकर यथास्थानमें रहे। तत्पश्चात् परमात्माने विदृतिद्वारसे अपना अंश शरीरमें भेजा। वह इस शरीरका आत्मा, अधिष्ठाता जीवात्मा, आंखोंकी पलकें मूंदने खोलनेवाला वहां जाकर रहा है। परमात्माका एक अंश जीव हुआ ऐसा यहां स्पष्ट दीख रहा है। सब देवताओंके अंश शरीरमें जाकर विराजनेके पश्चात् यह परमात्माका अंश शरीरके अन्दर जाकर रहा है। पहिले नहीं गया।

इसकी कृतकृत्यता उत्तम संतानसे होनी है। पिताकी कृतकृत्यता सुपुत्र होनेसे होती है। यहां दीर्घ आयुके अन्ततक प्रसन्नचित्तसे रहना है, उत्तम पुत्र उत्पन्न करना है, उस पुत्रको शुभ कर्ममें प्रवृत्त करना है, इस तरह कृतकृत्य होकर, स्वर्गलोकके भी अनेक भोग भोगकर, उत्तम ज्ञान संपन्न होकर, सब कुछ प्रज्ञानमय है यह अनुभव करके अमर बननेका साधन यहां बताया है।

सर्व ज्ञानमय है

मानवी जीवन देखिये ज्ञानरूपही है। जैसा ज्ञान वैसा मनुष्य। यह सिद्धान्त इस उपनिषदने इतने प्राचीन समयमें सुस्थिर किया है। एक मनुष्य महात्मा बनता है और दूसरा मनुष्य हीन दीन अवस्थामें सडता रहता है। इसका कारण उसका ज्ञान है। इसलिये सत्य ज्ञानका खूब प्रचार करना चाहिये। किसी मनुष्यको सत्य ज्ञानसे वंचित नहीं रखना चाहिये। यह उपदेश इस उपनिषदने किया है। ज्ञानही मानवकी मानवता विकसित करनेका एक मात्र साधन है। मनुष्य संपूर्ण विश्वको अपने ज्ञानसे व्यापता है, घेरता है, अपने ज्ञान में लाता है। ज्ञानरूपही सब कुछ है।

मानवकी उन्नतिका साधन प्रज्ञान है। इस प्रज्ञानका प्रचार करके सब मानवों तक पहुंचाना मनुष्योंकाही काम है। सब सृष्टिमें मानव श्रेष्ठ है, वह ज्ञानके कारण श्रेष्ठ है। सब मानवोंके शरीरोंमें सब देवताएं हैं, परमात्माकाभी अंश है। इस तरह इस दृष्टीसे सब मानव समान हैं। यह आध्यात्मिक समता यहां वर्णन की है। यह समता होनेपरभी प्रज्ञानके न्यून वा अधिकताके कारण मानवोंमें श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर ऐसी श्रेणियां होती है। इस तरह तत्वतः मानवोंकी समता कही है, परंतु प्रज्ञानसे उनकी विशेषता होती है ऐसा भी बताया है। यही वेदमंत्रमें है—

समता और विषमता

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः मनोजवेष्वसमा बभूवुः ॥
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ ७ ॥
ऋ. १०।७१

' सब मनुष्य आंख और कानवाले होते हैं, परंतु मनके वेगमें उनमें विषमता होती है । सब तालावोंमें जलकी समानता होती है, परंतु कईयोंमें छातीतक जल होता है, कईयोंमें गले तक होता है, और कई तालाव ऐसे गहरे होते हैं कि उनमें जितने चाहिये उतने गोते लगाओ, गहराईका पता ही नहीं लगता । '

यही विद्याकी गहराईका वर्णन है । समता रहते हुए भी विषमता रहती है । ऐसाही मनुष्योंके प्रज्ञानमें होता है ।

अम्भो लोक और आप्लोक

प्रथम चार लोक परमेश्वरने उत्पन्न किये । पृथिवीका नाम 'मर्त्यलोक' है, ऊपर अन्तरिक्षमें ' मरीचा लोक ' (प्रकाश किरणोंका स्थान) है । इस अन्तरालमें प्रकाश सतत रहता है इसका कारण यह है । द्युके ऊपर ' अम्भोलोक ' है आज इसको अंग्रेजीमें ' ईथर ' कहते हैं । यह आकाश तत्त्व है, जल जैसा ही यह है । यहां पृथ्वीके नीचे ' आप् लोक ' है ऐसा कहना चाहिये था । पृथ्वी जलमें नौका जैसी है, और उस पृथ्वीके उपरके पर्वत उसके ध्वजदण्ड जैसे हैं । ऐसा कई प्राचीन लोग मानते थे । पर हमारे शास्त्रकार तो ' पृथ्वी–आप्-तेज ' ऐसाही क्रम मानते हैं और वेदमें तो पृथ्वीको विराट् पुरुषके पांवके स्थानमेंही सबसे नीचे माना है । इस-लिये इस उपनिषदने पृथ्वीके नीचे ' आप लोक ' को किस तरह माना यह समझमें नहीं आता । विद्वान इसकी खोज करें ।

प्रज्ञानका श्रेष्ठत्व

इस उपनिषद्‌ने जो प्रज्ञानको सर्वोपरि माना है वह इस उपनिषद्‌की बडी महत्त्वकी देन है। यदि प्रज्ञानकी महत्ता भारतीय लोग जानेंगे और अपनी प्रगति प्रज्ञानमें विशेष कर लेंगे तो इस भारतका सर्वतोपरि गौरव होगा और यह प्रज्ञान विश्वशान्ति स्थापन करनेमें समर्थ होगा। सर्वत्र प्रज्ञानकी उन्नति हो। प्रज्ञानका विजय हो।

स्वाध्याय-मण्डल
'आनंदाश्रम'
पारडी (जि० सूरत)
१६।३।५३

लेखक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
अध्यक्ष—स्वाध्याय-मण्डल

ॐ

ऐतरेय उपनिषद्

शान्ति मन्त्र

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता । मनो मे वाचि प्रतिष्ठित-माविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः, श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

(मे वाक् मनसि प्रतिष्ठिता) मेरी वाणी मेरे मनमें ठहरी है । (मे मनः वाचि प्रतिष्ठितं) मेरा मन वाणीमें ठहरा है । (आविः मे आविः एधि) हे प्रभो ! तू मेरे सामने प्रकट, मेरे सामने प्रकट हो । (मे वेदस्य आणी स्थः) मेरे वेद-ज्ञानके तुम दोनों-वाणी और मन ये दोनों-खील जैसे आधार हो । (मे श्रुतं मा प्रहासीः) मेरा ज्ञान मुझे न छोड दे । (अनेन अधीतेन) इस अध्ययनसे (अहोरात्रान् संदधामि) मैं अहोरात्रोंको जोड दूंगा अर्थात् दिनरात मैं अध्ययन करता रहूंगा । (ऋतं वदिष्यामि) मैं सरल भाषण करूंगा । (सत्यं वदिष्यामि) मैं सत्य भाषण करूंगा । (तत् मां अवतु) वह मेरी सुरक्षा करे, (तत् वक्तारं अवतु) वह

प्रवचन कर्ताकी सुरक्षा करे। सुरक्षा करे मेरी, सुरक्षा करे प्रवचन कर्ताकी, सुरक्षा करे प्रवचन कर्ता की।

व्यक्तिमें शान्तिः, राष्ट्रमें शान्ति; विश्वमें शान्ति हो।

इस ऐतरेय उपनिषद् का शान्तिमन्त्र यह है। वाणी मनमें ठहरती है और मन वाणीमें ठहरता है। मन और वाणी परस्पर आश्रयसे रहते हैं। मन तो न्यून वा अधिक विकसित अवस्थामें सब प्राणियोंके पास रहता है, पर वाणी मनुष्यके पासही अत्यंत विकसित रूपमें रहती है। किसी अन्य प्राणी के पास ऐसी विकसित वाणी नहीं है। वाणी ही मानव की विशेषता है। वाणी और मन परस्पर के आश्रयसे रहते हैं। मनुष्यके पास समर्थ मन न रहा, तो उसकी वाणी विकसित नहीं होगी। और वाणी विकसित न रही, तो उसके मन का कोई उपयोग नहीं होगा। इसलिये मन और वाणी ये मनुष्य की मानवताके दो आधार स्तंभ हैं। मानवकी मानवता इन दो स्तंभों पर रहती है। इतना मन और वाणीका महत्त्व है

मन तथा वाणी ये (आणी स्थः) दो खील जैसे आधार हैं। इनके आधारसे मनुष्यका संपूर्णज्ञान रहता है। मन और वाणी मनुष्यके पास न रही, तो उसका ज्ञान नष्ट होगा। मनुष्य ज्ञानविज्ञानसंपन्न होता है वह मन और वाणी के कारण होता है। मन और वाणी ये दो खील हैं, जिनके आधार पर मनुष्यका संपूर्ण ज्ञान रहता है, इसलिये मनुष्यका मन और मनुष्यकी वाणी परिशुद्ध रहनी चाहिये। परिशुद्ध मन और वाणी मनुष्यके पास रही और उनके साथ ज्ञान भी रहा, तो उससे मनुष्यकी योग्यता बढती है। वेदादि ज्ञान मन और वाणी के आधारसे रहता है।

यह ज्ञान (श्रुतं) मुझे न छोडे। विद्याका अध्ययन करनेपर वह ज्ञान स्थिर रहना चाहिये। अर्थात् स्मरण शक्ति भी अच्छी रहनी चाहिये। नहीं तो किया हुआ अध्ययन भूल जायगा। इसलिये यहां कहा है कि (मे श्रुतं मा प्रहासीः) मेरा अध्ययन किया हुआ ज्ञान मुझे न छोड देवे। मेरा स्मरण करनेका सामर्थ्य अच्छा हो। अधीतज्ञानका विस्मरण मुझे न हो।

(अनेन अधीतेन अहोरात्रान् संदधामि) इस अध्ययनसे प्राप्त किये ज्ञानसे दिन और रात्रीको मैं जोड दूंगा। अर्थात् दिनमें और रात्रीमें इस ज्ञानसे मैं काम करूंगा। जिससे यह ज्ञान मेरे स्मरणमें रहेगा और वह सदा उपस्थित रहेगा।

(ऋतं वदिष्यामि) मैं सरल भाषण करूंगा। जिसमें कुटिलता नहीं, टेढा व्यंगभाव नहीं ऐसा सरल भाषण मैं करूंगा। (सत्यं वदिष्यामि) मैं सत्य यथार्थ भाषण करूंगा। जो जैसा है ऐसा मुझे विदित है वैसा उसके विषयमें मैं कहूंगा। जान बूझकर मैं असत्य भाषण नहीं करूंगा।

यह (ऋतं सत्यं) सरल और सत्य भाषण मेरी सुरक्षा करे। इससे मेरा संरक्षण हो। ऐसा कभी न हो कि मेरे सत्य और सरल भाषण के कारण ही मेरा नाश होनेका प्रसंग मुझपर आजाय। ऐसे प्रसंग आते हैं, इसलिये प्रार्थना है, कि मुझपर ऐसे प्रसंग न आजायं, कि अपने सरल और सत्य भाषणसे ही अपना नाश हो। ईश्वर ऐसे भयंकर प्रसंगसे मुझे बचावे।

ज्ञानका प्रवचन करनेवाले गुरुका संरक्षण हो, प्रवचन करनेवाले उपदेशक का संरक्षण हो, ज्ञानका प्रचार करनेवाले का संरक्षण हो। ज्ञान सुरक्षित हो, ज्ञान लेनेवाले शिष्यका संरक्षण हो और ज्ञान देनेवाले गुरुका भी संरक्षण हो। गुरु और शिष्य दोनों सुरक्षित हों। इस तरह गुरु शिष्य परंपरा से ज्ञान फैले और ज्ञानसे प्राप्त होनेवाले सुफल सब को प्राप्त हों।

इस तरह (ओं ॐ) हम सबका संरक्षण हो, व्यक्तिमें शान्ति रहे, समाज या राष्ट्रमें शान्ति रहे और विश्वभरमें शान्ति हो।

एकही आत्मा था ।

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।
नान्यत् किञ्चन मिषत् ।

यह प्रारंभमें एक आत्मा ही निःसन्देह था। और आंख झपकनेवाला कुछभी नहीं था।

ॐ

ऐतरेय उपनिषद्

अथ प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः ।

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीद् । नान्यत् किञ्चन मिषत् । स ईक्षत–' लोकान् नु सृजा ' इति ॥ १ ॥

स इमांल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापोऽम्भः परेण दिवं, द्यौः प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षं मरीचयः । पृथिवी मरो, या अधस्तात, ता आपः ॥ २ ॥

(इदं अग्रे एकः आत्मा एव वै आसीत्) यह प्रारंभमें एक आत्मा ही निःसन्देह था । (अन्यत् मिषत् किंचन न) और आंख झपकनेवाला कुछभी नहीं था । (स ईक्षत) उसने सोचा कि (लोकान् नु सृजै इति) मैं लोकोंको उत्पन्न करूं ॥ १ ॥

(स इमान् लोकान् असृजत) उसने इन लोकोंका सृजन किया । (अम्भः) अम्भो लोक, (मरीचीः) मरीची लोक, (मरं) मर लोक और (आपः) जल लोक, इनकी निर्मिति हुई । (अम्भः परेण दिवं) अम्भ लोक वह है कि जो इस द्युलोक के परे है, (द्यौः प्रतिष्ठा) यह द्युलोक उस अम्भ लोक का आधार है । (अन्तरिक्षं मरीचयः) यह अन्तरिक्षही मरीची

लोक है जहां किरणें फैलती हैं। (पृथिवी मरः) यह जो पृथिवी है वह मरलोक है। यही मृत्युलोक है । (या अधस्तात् ताः आपः) जो यहां नीचे है वह जल है ॥ २ ॥

टिप्पणी

आत्मा और प्रकृति

(१) प्रारम्भमें केवल आत्माही था । दूसरा कुछभी हल चल करनेवाला नहीं था । 'मिषत्' पद यहां है । इसका भाव आंखोंकी पलकें हिलानेवाला ऐसा है । अर्थात् सृष्टिके आरंभमें एकही केवल आत्मा था और कुछ भी आंख खोलने मूंदनेवाला नहीं था । इसका यह अर्थ नहीं होता कि आत्मासे भिन्न कुछ भी नहीं था । कुछ था, पर वह आंखें खोलने मूंदनेवाला नहीं था । अर्थात् कुछ जीवनवाली वस्तु नहीं थी । आंखें खोलना, बंद करना यह जीव-सजीव प्राणी करते हैं । वैसा कोई जीव नहीं था जो आंखें खोलता और मूंदता है, इसका अर्थ यह है कि सृष्टिके पूर्व आत्मा था और मूल प्रकृति थी जिसमें जीवका प्रवेश नहीं हुआ था । यदि यह भाव नहीं माना जायगा, तो 'मिषत्' पद व्यर्थ हो जायगा । 'नान्यत् किंचन' इतना कहनेसे कार्य होता था । पर यहां 'मिषत्' (आंखें खोलनेवाला) नहीं था इतना स्पष्ट कहा है, अर्थात् दूसरी ऐसी एक वस्तु थी जिसमें आंखें खोलने की शक्ति नहीं थी, वही मूल प्रकृति है ।

यहां एक चेतन आत्मा और दूसरी जड प्रकृति ऐसे दो वस्तुओंका होना सिद्ध हुआ है । इस चेतन आत्माने सोचा, क्योंकि इसके चेतन होनेके कारण सोचनेकी शक्ति इसमें स्वभावसे है । अतः इस आत्माने सोचा । दूसरी जो जड प्रकृति थी वह अचेतन होनेसे सोच नहीं सकती थी । वह तो वैसी ही पडी रही । उस चेतन आत्माने सोचा कि अब हम नाना प्रकारके लोकोंकी निर्मिति करेंगे ॥ (१)

चार लोकोंकी उत्पत्ति

(२) सोचकर उन्होंने इन चार लोकोंको उत्पन्न किया। अर्थात् अपनी योजना शक्तिको उस जड प्रकृतिके साथ मिलाकर इन लोकोंको निर्माण किया। ये लोक ये हैं। पहिला 'अम्भो' लोक जो द्युलोकके परे है, द्युलोकके ऊपर यह है। जल जैसा यह अत्यंत विरल एक तत्त्व है। इसीको आकाशतत्त्व (ईथर) कहते हैं। यह जल जैसा ही होता है। प्रकाश और शब्द एक स्थानसे दूसरे स्थान तक ले जाना इसका कार्य है। दूसरा 'मरीची' लोक, यह प्रकाश है, किरणें हैं। यह प्रकाश इस अन्तरिक्षमें फैला है। पूर्वोक्त अम्भो लोक (ईथर) के कारण प्रकाश चारों ओर फैलता है। अम्भोलोक की लहरें प्रकाशका वहन करती हैं। तीसरा लोक यह पृथिवी है, इसका नाम 'मर' है। मृत्यु लोक यह है। यहां जो पदार्थ हैं उनकी उत्पत्ति, अस्तित्व, वर्धन, रूपान्तर अर्थात् परिणाम, क्षीण होना और मरना ये छः विकार होते हैं। इनका नाम ही 'मर' है अथवा मृत्यु है। चौथा लोक 'आप' है जलतत्त्व है जो यहां पृथ्वीपर दीखता है। पृथिवीके चारों ओर यह है। ये चार लोक उत्पन्न हुए।

१ आप्, २ भूः, ३ अन्तरिक्ष, और द्युसे परे रहनेवाले ४ आकाश तत्त्व ये चार लोक यहां कहे हैं। आकाश दो प्रकारका है, एक अवकाश देनेवाला, केवल स्थानही जिसका रूप है और दूसरा वस्तु रूप है, जलतत्त्वकी जैसी लहरें जिसमें होती हैं। इस प्रकाशतत्त्वका वहन करनेवाले विरल जल जैसे सूक्ष्मतत्त्वको यहां अम्भोलोक कहा है जो इस द्युलोकसे परे है। यहां 'आत्मा' पद परमात्मा, परब्रह्म अथवा ब्रह्मका वाचक है। यहां प्रकृतिका वाचक पद नहीं है। प्रकृति है ऐसा यहां स्पष्ट कहा नहीं है। पर आंखें खोलनेवाला कुछ भी नहीं था इस निषेधसे जड प्रकृतिका अनुमान किया है जिससे चार लोक बनाये हैं। आगे देखिये—

लोक और लोकपालोंकी उत्पत्ति

स ईक्षत--'इमे नु लोका, लोकपालान् नु सृजा' इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्याऽमूर्च्छयत् ॥३॥

तमभ्यतपत्, तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत, यथाऽण्डं। मुखाद्वाक्, वाचोऽग्निः; नासिके निरभिद्येतां, नासिकाभ्यां प्राणः, प्राणाद्वायुः, अक्षिणी निरभिद्येतां, अक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः; कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं, श्रोत्राद्दिशः, त्वङ् निरभिद्यत, त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो; हृदयं निरभिद्यत, हृदयान्मनः, मनसश्चन्द्रमा; नाभिर्निरभिद्यत, नाभ्या अपानः, अपानान्मृत्युः; शिस्नं निरभिद्यत, शिस्नाद्रेतः, रेतस आपः ॥ ४ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः ॥

(स ईक्षत) उसने देखा कि (इमे नु लोकाः) ये लोक हैं। अब मैं (लोकपालान् नु सृजै इति) इन लोकोंके पालनकर्ताओंको निर्माण करूं। (सः अद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्य) उसने जलोंसे ही एक पुरुषको उठाकर (अमूर्च्छयत्) मूर्च्छितसा किया। (३)

(तं अभ्यतपत्) उसको उन्होंने तपाया, (तस्य आभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत) उसके तप जानेपर उसका मुख खुल गया,

(यथा अण्डं) जैसा अण्डा फटता है, वैसा फटकर मुख निर्माण हुआ। (मुखात् वाक्) मुखसे वाणी निकली और (वाचः अग्निः) वाणीसे अग्नि प्रकट हुआ। (नासिके निरभिद्येतां) दोनों नासिकाएं खुल गयीं, (नासिकाभ्यां प्राणः) नासिकाओंसे प्राण और (प्राणात् वायुः) प्राणसे वायु हुआ। (अक्षिणी निरभिद्येतां) दोनों आंखें उत्पन्न हुई (अक्षिभ्यां चक्षुः) आंखोंसे चक्षु इंद्रियाँ हुई और (चक्षुषः आदित्यः) आंखसे सूर्य हुआ। (कर्णौ निरभिद्येतां) दोनों कान निकले, (कर्णाभ्यां श्रोत्रं) कानोंसे श्रोत्र इंद्रिय हुआ और (श्रोत्रात् दिशः) श्रोत्रसे दिशाएं हुईं। (त्वक् निरभिद्यत) त्वचा हुई, (त्वचः लोमानि) त्वचासे लोम और (लोमभ्यः ओषधिवनस्पतयः) लोमोंसे ओषधियां और वनस्पतियां बनीं, (हृदयं निरभिद्यत) हृदय बना, (हृदयात् मनः) हृदयसे मन और (मनसः चन्द्रमाः) मनसे चन्द्रमा हुआ। (नाभिः निरभिद्यत) नाभी बनी, (नाभ्याः अपानः) नाभीसे अपान हुआ और (अपानात् मृत्युः) अपानसे मृत्यु हुआ। (शिस्नं निरभिद्यत) शिश्न उत्पन्न हुआ, (शिस्नात् रेतः) शिस्नसे रेत हुआ और (रेतसः आपः) रेतसे जल उत्पन्न हुआ। (४)

लोक और लोकपाल

(३-४) इसमें लोक और लोकपालोंकी उत्पत्तिका कथन किया है। उस ब्रह्मने आप् तत्त्वसे एक गोलक उठाया, उसको आकार देकर तपाया, तप जानेपर वह फट गया और उसके शरीरमें अनेक इंद्रियां उत्पन्न हुईं। वे स्थान बने और उन स्थानोंके लोकपाल भी बने। इसकी तालिका ऐसी होती है।

व्यक्तिमें इंद्रिय	इन्द्रियकार्य	लोकपाल
१ मुख	वाक्	अग्नि
२ नासिका	प्राण	वायु
३ आंख	दृष्टि	सूर्य
४ कान	श्रवण	दिशा
५ त्वचा	लोम	औषधिवनस्पतियाँ
६ हृदय	मन	चन्द्रमा
७ नाभिः	अपान	मृत्यु
८ शिस्न	रेत	आप्

यहां व्यक्तिके इंद्रिय, उनके कार्य तथा कार्यक्षेत्र, और उनका विश्व-शक्तियोंसे संबंध बताया है। यह अटूट संबंध है। अपने व्यक्तिके इंद्रिय इन बाह्य शक्तियोंके सहारेसे अपना कार्य करते हैं। सूर्यके प्रकाशसे ही मनुष्यकी आंख देखती है। वायुके सहारे प्राण कार्य करता है। पर यही बात लोम और मन के साथ औषधियां, और चन्द्रमा के साथ दीखती नहीं है।

इस विषयमें जो विवरण लिखना है वह आगे योग्य समय पर लिखेंगे, क्योंकि आगेके प्रकरणसे इसका संबंध है, इसलिये दोनों प्रकरणोंका स्पष्टीकरण आगे एक ही स्थान में लिखेंगे।

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः ।

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्त-मशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् । ता एनमब्रुव-'न्नायतनं नः प्रजानीहि, यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नम-दाम' इति ॥ १ ॥

ताभ्यो गामानयत्; ता अब्रुवन्- 'न वै नोऽयमल-मिति' ताभ्योऽश्वमानयत्; ता अब्रुवन्- 'न वै नोऽयमलमिति' ॥ २ ॥

(ताः एताः देवताः सृष्टाः) वे ये देवताएं उत्पन्न हो जानेपर (अस्मिन् महति अर्णवे प्रापतन्) वे सब इस बडे समुद्रमें गिर गये। (तं अशनाया-पिपासाभ्यां अन्ववार्जत्) उस पुरुषको— प्राणीको भूख और प्याससे उस परमात्माने युक्त किया। (ताः एनं अब्रुवन्) उन देवताओंने उस परमात्मासे कहा कि (नः आयतनं प्रजानीहि) हमारे लिये किसी स्थानमें रहनेकी आज्ञा तो दो, (यस्मिन् प्रतिष्ठिताः अन्नं अदाम इति) जिसमें हम-ठहरकर अन्न खायेंगे, अर्थात् भोग भोगेंगे ॥ १ ॥

(ताभ्यः गां आनयत्) उन देवताओंके लिये उस परमात्माने गौ या बैल लाया, उसे देखकर (ताः अब्रुवन्) उन्होंने कहा कि (न वै अयं नः अलं) यह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है। (ताभ्यः अश्वं आनयत्) उनके लिये उसने घोडा लाया, (ता अब्रुवन्) उन्होंने कहा कि (न वै नः अयं अलं) हमारे लिये यह पर्याप्त, जैसा चाहिये वैसा, नहीं है ॥ २ ॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्, ता अब्रुवन्— 'सुकृतं बत' इति। पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीत्– 'यथाऽऽयतनं प्रविशत' इति॥ ३॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्; आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्, ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्, मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशद्, आपोरेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्॥ ४॥

(ताभ्यः पुरुषं आनयत्) उनके लिये उसने पुरुषको लाया, उसे देखकर (ता अब्रुवन्) उन्होंने कहा कि (सुकृतं बत इति) वाह वाह यह तो बहुत अच्छा बना है। (पुरुषः वाव सुकृतं) यह मनुष्य शरीर ही अच्छा बना है। यह सुनकर (ताः अब्रवीत्) उनको उस परमात्मा ने कहा कि (यथा आयतनं प्रविशत इति) अपने अपने स्थानमें प्रवेश करो और वहां रहो॥ ३॥

(अग्निः वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्) अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हुआ। (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्) वायु प्राण बनकर नासिका में प्रविष्ट हुआ। (आदित्यः चक्षुः भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्) सूर्य चक्षु बनकर आंखमें प्रविष्ट हुआ। (दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्) दिशाएं श्रोत्र बनकर कानों में प्रविष्ट हुईं। (ओषधिवनस्पतयः लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्) ओषधियां और वनस्पतियां लोम बनकर त्वचामें प्रविष्ट

तमशनायापिपासे अब्रूतां- 'आवाभ्यामभिविजानीहि' इति । ते अब्रवीत्- 'एतास्वेव वां देवतास्वाभजामि, एतासु भागिन्यौ करोमि' इति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते, भगिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

इति प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः

हुई । (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्) चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें प्रविष्ट हुआ । (मृत्युः अपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्) मृत्यु अपान बनकर नाभिमें प्रविष्ट हुआ । और (आपः रेतः भूत्वा शिस्नं प्राविशन्) जल रेत बनकर शिस्नमें प्रविष्ट हुआ ॥ ४ ॥

(अशनाया-पिपासे तं अब्रूतां) भूख और प्यासने उस परमात्मासे कहा कि (आवाभ्यां अभिजानीहि) हम दोनों के लिये भी किसी स्थानमें रहनेकी आज्ञा दो । (सः ते अब्रवीत्) वह परमात्मा उनसे बोला कि (एतासु देवतासु एव वां आभजामि) इन देवताओंमें ही तुम दोनोंको मैं सहभागी करता हूं । (एतासु भागिन्यै करोमि इति) इनमें हो तुम्हें सहभागी करता हूं । (तस्मात् यस्यै कस्यै च देवतायै) इसलिये किसी देवता को (हविः गृह्यते) देनेके लिये हवि लिया जाता है, तो (अस्यां अशनायापिपासे भागिन्यौ एव भवतः) उसमें भूख और प्यास सहभागी होती हैं ॥ ५ ॥

देवताओंके लिये योग्यस्थान

४।५ इससे पूर्व बताया कि जलसे एक पिण्ड बनाया, जो अण्डे के समान था, वह फटकर उसमें सुराख हुए और उनमेंसे प्रत्येक छिद्रमें एक

एक इंद्रिय उत्पन्न हुआ और उस इंद्रियसे एक एक देवता निर्माण हुई। मुख-नासिका-नेत्र-कर्ण-त्वचा-हृदय-नाभि-शिस्न ये इंद्रिय बने, इनसे क्रमसे वाणी-प्राण-दृष्टि-श्रवण-लोम-मन-अपान-रेत ये हुए। इनसे अग्नि-वायु-सूर्य-दिशा वनस्पति-चन्द्रमा-मृत्यु-जल ये देवताएं बनीं। अब इसके विपरीत कहते हैं।

अग्नि-वायु-आदित्य-दिशा-वनस्पतियां-चन्द्रमा-मृत्यु-जल ये देवताएं क्रमसे वाणी-प्राण-नेत्र-कान-लोम-मन-अपान-रेत का रूप धारण करके इस शरीरमें प्रविष्ट होगई हैं। इसकी तालिका ऐसी बनती है।
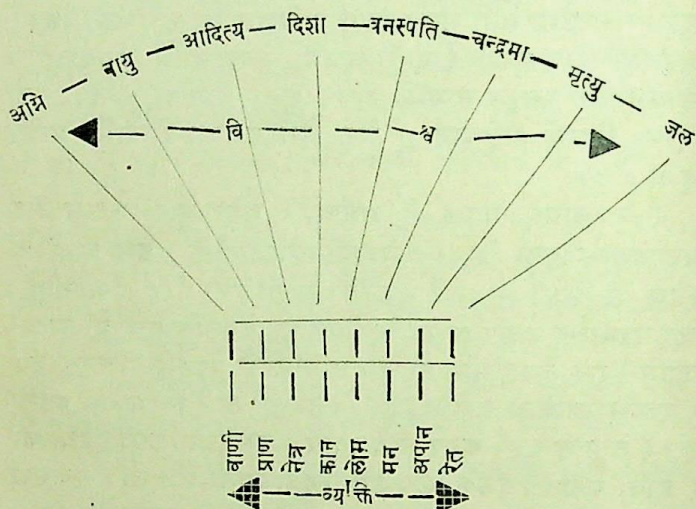
विश्वकी शक्तियां अंशरूपसे अथवा बीजरूपसे शरीरमें प्रविष्ट हुई हैं और उनके सहयोगसे यह शरीर बना है। विश्वमें जो नाना प्रकार-की शक्तियां हैं, उनके अंश इकट्ठे होकर यह शरीर बना है। शरीरमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, औषधि वनस्पतियां, सूर्य, विद्युत् आदि सभी देवताओं के अंश हैं। विश्वमें जितनी दैवी शक्तियां हैं, वे सबकी सब अंशरूपसे

इस शरीरमें हैं। शरीरका नाम पिंड है और विश्वका नाम ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्डमें सब शक्तियां विशाल प्रमाणमें हैं और वे ही शक्तियां पिंडमें शरीरमें हैं। तत्त्वदृष्टिसे पिण्ड और ब्रह्माण्ड एक ही है, जैसी अग्नि और अग्निकी चिनगारी। मानो विश्वकी चिनगारी यह शरीर है।

विश्वमें ३३ देवताएं हैं, शरीरमें भी ये ही ३३ देवताएं हैं, परंतु अंश-रूपसे है। प्रत्येक देवता पूर्णरूपसे विश्वमें है और वही अंशरूपसे शरीर में है। इस तरह पिण्ड ब्रह्माण्ड की तत्त्वतः एकता है। विश्वमें ३३ देवताएं हैं और पिण्डमें भी हैं।

देवताओंका मन्दिर

यहां पाठक अपने देहमें इन देवताओंका अनुभव लें, सूर्य अंशरूपसे आंखमें है, वायु प्राणमें है, अग्नि वाणीरूप होकर यहां रहा है, दिशाएं कानमें रही हैं, इसी तरह अन्यान्य देवताएं इस शरीरमें रहती हैं। मनुष्य इस अपने देहमें ये सब देवताएं हैं इसका ज्ञान प्राप्त करें और मेरा शरीर ३३ देवोंका मन्दिर है इस बातको जानें। यह शरीर इस तरह देवताओं का मन्दिर है। दिव्य शक्तियोंका यहां निवास है। इस शरीरकी स्वभा-वतः इस तरह पवित्रता है। इसको अधिक पवित्र करनाही हमारी उन्न-तिका अनुष्ठान है।

अपने शरीरकी इन अंशरूप देवताओंके रूपसे हमारा संबंध विश्वरूपी विराट पुरुषके साथ है। परमात्मा विश्वात्मा का यह विश्वरूप विशाल शरीर है और उसमें ३३ देवताएं निवास करती है–

यस्यत्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंग सर्वे समाहिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १३ ॥ अथर्व० १०।७

'जिस परमात्माके विश्वरूप शरीरमें ३३ देवताएं रही हैं वही सबका आधार स्तंभ और परम सुखदायी मंगलस्वरूप है। जिसके शरीरके गात्रोंमें अवयवोंमें ३३ देवताएं रहती हैं उनको अकेले ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।' इस तरह परमात्माके विश्वरूपी शरीरका वर्णन वेदमंत्रोंमें हैं यह वर्णन और भी देखिये।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः॥ १२॥
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः॥ १५॥
यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरंगिरसोऽभवन्।
अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि०॥ १८॥
यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः॥ २२॥
यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्रे आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३३॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३४॥

अथर्व० १०।७

'जिसमें भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ समायी है; जहां अग्नि, चन्द्रमा सूर्य और वायु रहते हैं। समुद्रको मिलनेवाली नदियां जिस परमात्माके शरीरमें धमनियां हैं। वैश्वानर अग्नि जिसका सिर और अंगिरस सूर्य जिसके नेत्र हैं। सब भ्रमण करनेवाले प्राणी जिसके शरीरके अवयव हैं। द्वादश आदित्य एकादश रुद्र और अष्ट वसु जिसके शरीरमें अवयवरूप बने हैं, सब

लोक और सब भूत भविष्य जिसमें समाया है । भूमि जिसके पांव और अन्तरिक्ष जिसका पेट है, द्युलोक जिसका सिर है, जिसके आंख सूर्य और चन्द्र है, जिसका मुख अग्नि है । जिसके प्राण अपान यह वायु बना है, चक्षु सूर्य है, दिशा जिसके प्रज्ञान देनेवाले कान है वह ज्येष्ठ ब्रह्म है उसको हमारा प्रणाम है । '

यही अथर्व मंत्रोंका वर्णन इस उपनिषद्के दो खंडोंमें है । यह वर्णन विश्वरूपी विराट पुरुषके लिये भी लगता है और व्यक्तिके शरीरका भी वर्णन यही होता है । व्यक्ति शरीरमें ये देवताएं अंशरूपसे हैं और विराट पुरुषके शरीरमें अपने विशाल रूपमें रहती हैं । पर दोनों जगह ये ही ३३ देवताएं हैं । इसलिये पिंडका छोटापन और ब्रह्माण्डका विशालपन छोड दिया जाय तो दोनों स्थानोंमें तत्त्वदृष्टीसे वर्णन एक ही है ।

जैसा विराट् पुरुषका आंख सूर्य है, वैसाही हमारा आंख भी सूर्यकाही अंश है । विराट् पुरुषका प्राण यह वायु है वैसाही हमारा प्राण भी यही वायुका अंश है । इसी तरह अन्यत्र देखना चाहिये ।

पाठक यहां देखें कि व्यक्तिका विश्वके साथ ऐक्य संबंध है । हमारे शरीरके पांच भौतिक अंश बाहरके विशाल पंचमहाभूतोंके ही अंश हैं । हमारा शरीर विराट पुरुषके शरीरका ही एक अंश है । हमारे शरीरका एक बिन्दु विश्वरूपी विराट् पुरुषके देहमें है अर्थात् हमारा शरीर ही विराट् पुरुषके शरीरका एक भाग है । यह एकता यहां देखनी चाहिये । तथा अनुभव करके देखनी चाहिये । मेरा संबंध विश्वके अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, दिशा, जल, वनस्पतिसे कैसा है इनके अंश लेकर हमारा प्रतिदिनका जीवन हो रहा है । वायु जल और सूर्यका हमसे संबंध टूट जाय तो हमारा जीवन भी नहीं रहेगा । विश्वके साथ हमारा ऐसा जीवनका संबंध है ।

वृक्ष और बीज

वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष होता है, पुरुषसे वीर्य और वीर्यसे पुरुष

उत्पन्न होता है। वृक्षके सब गुण बीजमें आते हैं और वेही वृक्षमें फिर परिणत होते हैं। इसी तरह पुरुष शरीरके सब गुण वीर्यबिन्दुमें उतरते हैं और फिर वे ही उस वीर्यबिन्दुसे होनेवाले शरीरमें विकसित होते हैं। इसी तरह विराट् पुरुषका एक वीर्यबिंदु व्यक्ति है और व्यक्ति का विकसित रूप विराट् पुरुष है। यही बात यहां इस उपनिषद् के इन दो खण्डोंमें बतायी है। सूर्यादि देवताओंके अंश इकट्ठे होकर यह व्यक्तिका शरीर हुआ है और इस व्यक्तिके शरीरके देवातांशोंसे फिरसे यह विराट् पुरुष का विश्वदेह हुआ है। वृक्षमें विशालता है और बीजमें संक्षेप हैं। पुरुषमें विशालता है, उसके वीर्यबिन्दुमें सूक्ष्मता है। पर दोनों स्थानोंमें शक्तियोंकी एकता है। बीजकी ही शक्तियां वृक्षमें परिणत होती हैं, वीर्यबिन्दु की ही शक्तियां शरीरमें परिणत होती हैं। इस तरहका यह संबंध इन दोनों खण्डोंमें वर्णन किया है। और बताया है कि व्यक्ति और विराट् पुरुष समान तत्त्ववाले हैं। विराट् पुरुषका अवयवही व्यक्तिका शरीर है। द्वितीयखण्डकी तालिका ऐसी होती है—

विराट् पुरुष		व्यक्तिका शरीर
ब्रह्माण्ड		पिण्ड
अग्नि	वाक्	मुख
वायु	प्राण	नासिका
सूर्य	चक्षु	नेत्र
दिशा	श्रवण	कान
वनस्पति	लोम	त्वचा
चन्द्र	मन	हृदय
मृत्यु	अपान	नाभि
जल	रेत	शिस्न

विश्व चक्र

प्रथम खण्डमें इसके उलटा क्रम कहा था। यहां इससे उलटा कहा है। दोनों वर्णन मिलकर एक पूर्ण वर्णन हुआ है। वृक्षका बीज और बीजका वृक्ष यह एक चक्र हुआ। इसीको बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज ऐसा भी कह सकते हैं। दोनों मिलकर एक चक्र पूर्ण होता है। इस चक्र का एक अंश व्यक्ति है। व्यक्ति अपना व्यक्तित्व ऐसा है यह समझे।

जिस तरह पंचभूतोंके अंश इकट्ठे होकर व्यक्तिका शरीर बना है, व्यक्ति के मन का अंश भी परमेश्वरके विश्वव्यापक मनका ही अंश है, वैसाही परमात्माका अंश व्यक्तिके अन्दरका जीवात्मा है यह इस वर्णन का तात्पर्य है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति। गी.

'परमात्माका ही एक अंश इस जीव लोकमें जीव बना है और वह मन आदि इंद्रियोंको अपने आकर्षणसे आकर्षित करके अपने पास रखता है। इस तरह विराट् पुरुषके शरीरके सब तत्त्व जीवके शरीरमें आकर वसते हैं। इसीका वर्णन वेदमंत्रमें इस तरह किया है–

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्वेद प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥ ३ ॥
ये त आसन्दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥
अथर्व० ११।८

'बडे दस देवोंसे अंशरूप दस देव उत्पन्न हुए। इनको जो जानता है वह बडे ज्ञानका प्रवचन कर सकता है। जो बडे दस देव हैं, उनसे छोटे

दस देव उत्पन्न हुए। इन छोटे पुत्ररूप देवोंको योग्य स्थान देकर फिर वे बडे देव कहां जाकर रहे ? यह देहरूप मरण धर्मवाला घर बनाकर सब देव इसमें प्रविष्ट हुए हैं। ऐसा घर बनाकर उसमेंसे सब देव इस पुरुषके शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं। '

इस तरहका यही वर्णन इस उपनिषद्में अन्य शब्दोंसे वर्णन किया है। पाठक दोनों वर्णनोंकी तुलना करें और दोनों वर्णन आशय की दृष्टीसे कैसे एक हैं यह देखें।

यह शरीर उत्तम है

इस द्वितीय खण्डमें इस शरीरका महत्त्व वर्णन करने के लिये ऐसा कहा है कि– ' ये सब अग्नि वायु सूर्य आदि देवतायें इस बडे समुद्रमें पडीं, वहांसे वे ईश्वरसे कहने लगीं कि ' हमें अच्छा स्थान तो दो कि जहां हम आनन्दका अनुभव करें। ' ईश्वरने उनके सामने गाय, बैल, घोडा, इन प्राणियोंके शरीर लाये। उन देवताओंने इन शरीरोंको देखा और कहा कि ' यह स्थान हमारे कार्य करनेके लिये अच्छा नहीं है। हमें दूसरा इससे अच्छा स्थान चाहिये। '

तब परमेश्वरने उन देवताओंके सामने ' मनुष्यका शरीर ' लाया। देवताओंने इसको देखा और कहा कि– ' वाह वाह, यह तो बडाही अच्छा है, यह जैसा हमें चाहिये ठीक वैसा है (सुकृतं बत) यह अच्छा बना है, जैसा हमें चाहिये वैसा बना है। (पुरुषो वाव सुकृतं) यह जो मनुष्य का शरीर है वह हमारे लिये उत्कृष्ट बना है। निःसंदेह यह अच्छा बना है।

पशुपक्षियोंके अन्य शरीर जो हैं वे अपूर्ण हैं। उनमें रहकर जीवात्मा पुरुषार्थ प्रयत्न करके अपना उत्कर्ष कर नहीं सकता। परंतु यह मानवी शरीर ऐसा उत्तम है कि यहां अनेक पुरुषार्थ किये जा सकते हैं जिनसे जीवात्माकी परम उन्नति हो सकती है। नरका नारायण बननेका यह साधन है। जीवका शिव यहां हो सकता है। साधक को ब्राह्मी स्थिति यहीं

प्राप्त हो सकती है। यह इस शरीररूपी सुयोग्य साधनका महत्त्व है।

इस मानवी शरीरको इस तरह देवताओंने पसंद किया, तब उनको परमेश्वरने कहा कि 'हे देवताओ! तुम इसमें (यथा आयतनं प्रविशत) अपने अपने सुयोग्य स्थानमें प्रवेश करो और वहां रहो तथा वहां रहकर अपनी उन्नतिका साधन करो।'

इस तरह इस शरीरकी श्रेष्ठता का वर्णन है। इसलिये इस शरीरको हीन दीन, पीपमूत्र विष्ठाका गोला, कारागृह आदि निंदा करके इसको घृणित मानना और वैसा घृणाके शब्दोंसे वर्णन करना योग्य नहीं है। यह देवताओंका स्थान अथवा मंदिर है और यहाँ देवताएं आकर रहीं हैं और उनका कार्य यहां चलरहा है यह देखना चाहिये।
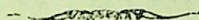
अथ प्रथमाध्याये तृतीयः खण्डः ।

स ईक्षत– ' इमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च, अन्न-मेभ्यः सृजा ' इति ॥ १ ॥

सोऽपोऽभ्यतपत्, ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत, या वै सा मूर्तिरजायत, अन्नं वै तत् ॥ २ ॥

तदेनदभिसृष्टं, पराङत्यजिघांसत्, तद्वाचाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम् । स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यद्, अभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

(स ईक्षत) उसने देखा कि (इमे नु लोकाः लोकपालाः च) ये लोक और ये लोकपाल हैं । (एभ्यः अन्नं सृजे इति) इनके लिये मैं अन्न उत्पन्न करूं ॥ १ ॥

उसने ऐसा विचार करके (सः अपः अभ्यतपत्) उसने जलको तपाया । (ताभ्यः अभितप्ताभ्यः मूर्तिः अजायत) उन तपे हुए जलोंसे एक मूर्ति उत्पन्न हुई, (या वै सा मूर्तिः अजायत) जो वह मूर्ति बनी (अन्नं वै तत्) निःसंदेह वह अन्न ही है ॥ २ ॥

(तत् एनत् अभिसृष्टं) वह अन्न उत्पन्न हुआ तब वह (पराङ् अत्यजिघांसत्) पीछे भागने लगा । (तत् वाचा अजि-घृक्षत्) उसने उसको वाणीसे खानेकी इच्छा की, पर (तत् वाचा ग्रहीतुं न अशक्नोत्) वह उस अन्नको वाणीसे पकडने में समर्थ नहीं हुआ । (स यत् ह एनत् वाचा अग्रहैष्यत्) वह यदि इसको वाणीसे पकड सकता, तो (अन्नं अभिव्याहृत्य ह एव अत्रप्स्यत्) अन्नका नाम केवल लेनेसे ही तृप्त हो जाता ॥ ३ ॥

तत् प्राणेनाजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोत् प्राणेन ग्रहीतुम्;
स यद्धैनत् प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्यहैवान्नमत्रप्स्यत् ॥४॥
तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्। स
यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद्, दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ५ ॥
तच्छ्रोत्रेणाऽजिघृक्षत्,तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्। स
यद्धैनच्छ्रोत्रेणाऽग्रहैष्यत्, श्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥६॥

(तत् प्राणेन अजिघृक्षत्) उसने उस अन्न को प्राणसे पकडने की इच्छा की, (तत् प्राणेन ग्रहीतुं न अशक्नोत्) वह उसको प्राणसे पकडने में समर्थ नहीं हुआ। (स यत् ह एनत् प्राणेन अग्रहैष्यत्) वह यदि इसको प्राणसे पकडनेमें समर्थ होता तब (अन्नं अभिप्राण्य एव अत्रप्स्यत्) वह केवल अन्नको सूंघकर ही तृप्त हो जाता। ॥ ४ ॥

(तत् चक्षुषा अग्रहैष्यत्) उसने उस अन्नको आंखसे लेना चाहा, पर (तत् न अशक्नोत् चक्षुषा ग्रहीतुं) वह उस अन्नको आंख से पकड न सका, (स यत् ह एनत् चक्षुषा अग्रहैष्यत्) वह यदि इस अन्नको आंखसे पकड सकता, तो (अन्नं दृष्ट्वा ह एव अत्रप्स्यत्) अन्नको देखकरही तृप्त हो जाता ॥ ५ ॥

(तत् श्रोत्रेण अजिघृक्षत्) उसने उसको कानोंसे पकडना चाहा, (तत् श्रोत्रेण ग्रहीतुं न अशक्नोत्) वह कानोंसे इसको न पकड सका। (स यत् ह एनत श्रोत्रेण अग्रहैष्यत्) वह यदि इसको कानोंसे पकड लेता, तो (अन्नं श्रुत्वा एव ह अत्रप्स्यत्) अन्न का वर्णन सुनकर ही वह तृप्त हो जाता ॥ ६ ॥

तत्त्वचाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत्, स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥
तन्मनसाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यत्, ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥८॥
तच्छिश्नेनाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यत्, विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥९॥
तदपानेनाजिघृक्षत्, तदावयत्, स एषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुः ।
अन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥ १० ॥

(तत् त्वचा अजिघृक्षत्) उसने अन्नको त्वचासे लेना चाहा (तत् त्वचा ग्रहीतुं न अशक्नोत) वह त्वचासे इसको न पकड सका। (स यत् ह एनत् त्वचा अग्रहैष्यत्) वह यदि इसको त्वचासे पकड लेता तो (अन्नं स्पृष्टा एव ह अत्रप्स्यत्) वह अन्नको छूकर ही तृप्त हो जाता ॥ ७ ॥

(तत् मनसा अजिघृक्षत्) उसने अन्नको मनसे पकडना चाहा, (तत् न मनसा ग्रहीतुं अशक्नोत्) वह मनसे इसको पकड न सका। (स यत् ह एनत् मनसा अग्रहैष्यत्) वह यदि इसको मनसे पकड सकता, तो (अन्नं ध्यात्वा एव ह अत्रप्स्यत्) वह अन्नका ध्यान करके ही तृप्त हो जाता ॥ ८ ॥

(तत् शिश्नेन अजिघृक्षत्) उसने इस अन्नको शिश्नसे पकडना चाहा, (तत् शिश्नेन ग्रहीतुं न अशक्नोत्) वह उस अन्नको शिश्नसे पकड न सका। (स यत् ह एनत् शिश्नेन अग्रहैष्यत्) यदि वह उस अन्नको शिश्नसे पकड लेता तो (अन्नं विसृज्य एव ह अत्रप्स्यत्) अन्नको त्यागकर ही तृप्त हो जाता ॥९॥

(तत् अपानेन अजिघृक्षत) उसने इस अन्नको अपने अपानसे

पकडना चाहा, (तत् आयवत्) उसने उसको पकड लिया। (स एषः अन्नस्य ग्रहः यत् वायुः) अतः वह यह अन्नका ग्रहण करनेवाला वायु अर्थात् प्राण है। यह (अन्नायुः वै एष यत् वायुः) यह जो प्राणरूप वायु है वह अन्नायु है अर्थात् अन्नसे इसकी आयु बढ जाती है। अन्नपर इसकी आयु अवलंबित रहती है ॥१०॥

स ईक्षत—'कथं न्विदं मदृते स्यात्' इति। स ईक्षत—'कतरेण प्रपद्या' इति। स ईक्षत—'यदि वाचाऽभिव्याहृतं, यदि प्राणेनाभिप्राणितं, यदि चक्षुषा दृष्टं, यदि श्रोत्रेण श्रुतं, यदि त्वचा स्पृष्टं, यदि मनसा ध्यातं, यद्यपानेनाऽभ्यपानितं, यदि शिश्नेन विसृष्टं, अथ कोऽहं' इति ॥११॥

(स ईक्षत) उस आत्माने सोचा कि (कथं नु इदं मत् ऋते स्यात् ?) किस तरह यह सब शरीर मेरे विना रह सकता है ? (स ईक्षत) उसने सोचा कि (कतरेण प्रपद्य इति) किस मार्ग से मैं इस शरीर में प्रवेश करूं ? (स ईक्षत) उसने फिरसे सोचा कि (यदि वाचा अभिव्याहृतं) यदि मेरे विना वाणी न बोल सकी, (यदि प्राणेन अभिप्राणितं), यदि प्राणने प्राण युक्त किया, (यदि चक्षुषा दृष्टं) यदि आंखोंने देख लिया, (यदि श्रोत्रेण श्रुतं) यदि कानोंने सुन लिया, (यदि त्वचा स्पृष्टं) यदि त्वचाने स्पर्श किया, (यदि मनसा ध्यात) यदि मनसे ध्यान किया, (यदि अपानेन अभ्यपानितं) यदि अपानने निगल लिया, (यदि शिश्नेन विसृष्टं) यदि शिश्नने त्याग दिया, तब (कः अहं इति) मैं कौन हूं ? अर्थात् यदि मेरे विना ही ये सब इन्द्रिय अपने अपने कर्म कर सकेंगे तो मेरा प्रयोजन तो क्या रहा ? तात्पर्य मेरे विना यहां कुछ भी होनेवाला नहीं है। यह देखकर ॥११॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत, सैषा विदृतिर्नाम द्वाः, तदेतन्नान्दनं, तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यात्— 'किमिहान्यं वावदिषत्' इति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत् 'इदमदर्शं' इति। ॥१३॥ तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम; तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण; परोक्षप्रिया इव हि देवाः; परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥

इति प्रथमाध्याये तृतीयः खण्डः।

इति प्रथमाध्यायः।

(स एतं एव सीमानं विदार्य) उस आत्माने इस सीमाका विदारण करके (एतया एव द्वारा प्रापद्यत) इसी द्वारसे अन्दर प्रवेश किया। (सा एषा विदृतिः नाम द्वाः) वह यह विदृति नामक द्वार है। (तत् एतत् नान्दनं) वह यह आनन्दका स्थान है (तस्य त्रयः आवसथाः) उस आत्माके रहनेके स्थान तीन हैं। (त्रयः स्वप्नाः) तीन सोने के, विश्रामके, स्थान हैं। (अयं आवसथः) आंख यह एक रहनेका स्थान है, (अयं आवसथः) दूसरा स्थान कण्ठमें है और (अयं आवसथः) तीसरा स्थान हृदयमें है ॥ १२ ॥

(स जातः भूतानि अभिव्यैख्यत्) वह उत्पन्न होनेपर उसने सब भूतों का निरीक्षण किया और (किं इह अन्यं वावदिष्यत् इति) यहां कौन दूसरा है वह कहे ऐसा कहा। (स

एतं एव पुरुषं) उसने इसी पुरुषको (ब्रह्म ततमं अपश्यत्) सबसे बडा और व्यापक रूपमें देखा । और उसने कहा कि मैंने (इदं अदर्शं) इसको देखा ॥ १३ ॥ (तस्मात् इदन्द्रः नाम) इसलिये इसका नाम इदन्द्र हुआ। (इदन्द्रः ह वै नाम) उसका नाम इदन्द्र हुआ है । (तं इदन्द्रं सन्तं) उसका नाम इन्दद्र होता हुआ (इन्द्र इति परोक्षेण आचक्षते) उसे परोक्षताके कारण—गुह्यताके कारण इन्द्र ऐसा कहते हैं । क्योंकि (देवाः हि परोक्षप्रियाः) देवताएं परोक्षको पसंद करती हैं. (परोक्षप्रिया इव हि देवाः) परोक्षको ही देव पसंद करते हैं ॥ १४ ॥

प्रथमाध्याय का तृतीय खण्ड समाप्त.

प्रथमाध्याय समाप्त.

अन्नकी उत्पत्ति

(१-१३) इस तृतीय खण्डके प्रारंभमें ही पुनः कहा है कि (स ईक्षत) उसने सोचा कि ये लोक और ये लोक पाल हैं । इनके लिये मैं अन्न उत्पन्न करूं । यह सोचनेवाला कौन है ? इसका उत्तर प्रथम खण्डमें है । वहां कहा है कि—' प्रारंभमें एकही एक आत्मा था, दूसरा कुछभी आंखें मूंदनेवाला नहीं था । ' इसीने लोक उत्पन्न किये, पश्चात् इसीने लोकपाल निर्माण किये । इसीने देवताएं निर्माण कीं, उन देवताओंके रहनेके लिये शरीर निर्माण किया । वहां वे देवताएं यथास्थानमें रहने लगीं । उनको भूख प्यास सताने लगी । इसलिये वही एक महान् आत्मा सोचने लगा कि ' ये लोक और ये लोकपाल हुए हैं । अब इनके लिये मैं अन्न उत्पन्न करूं । ' इस तरह सोचनेवाला वही एक आत्मा है। उसीने जलोंको तपाया ' उससे एक (मूर्तिः अजायत, तत् अन्नं) मूर्ति उत्पन्न हुई, वही अन्न है ।

अन्नका स्वरूप

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह जो मूर्ति उत्पन्न हुई वह 'शाक' थी या 'जीव' थी। हम जलसे उत्पन्न होनेवाली सृष्टीमें वनस्पति प्रथम और पश्चात् जीव सृष्टी उत्पन्न होती है ऐसा देखते हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि यह जो अन्न उत्पन्न हुआ वह वनस्पतिरूप था क्योंकि '**पर्जन्यादन्नसंभवः**' ऐसा गीतामें कहा है। पर्जन्यसे अन्न उत्पन्न होता है वह शाकान्न ही है। परंतु इसमें पाठभेदकी एक अडचन है। यहां दो पाठ हैं--

(१) तत् एतत् अभिसृष्टं, नदत्, पराङ् अत्यजिघांसत्।

(२) तत् एतत् अभिसृष्टं, पराङ् अत्यजिघांसत्।

एक पाठमें 'नदत्' पद है और दूसरे पाठमें यह 'नदत्' पद नहीं है। ऐतरेय आरण्यक सायनभाष्य, ऐतरेय उपनिषद् शांकर भाष्यमें 'नदत्' पद नहीं है। पर जेकोबी तथा विश्वेश्वरानंद वे० सं० सूचीमें आरण्यकमें 'नदत्' पद दिया है। श्री रा० रा० भागवत द्वारा मुंबईमें छपे ऐ० उ० में 'नदत्' पद् है। हम निश्चयसे नहीं कह सकते कि यह 'नदत्' पद यहां है वा नहीं। पर यदि 'नदत्' पद यहां होगा तो उसका अर्थ 'शब्द करनेवाला' है। यह अन्न शब्द करनेवाला होगा, शब्द करना तो सजीव प्राणीके लिये ही संभव है। इसलिये यह अन्न सजीव प्राणीके रूपमें मानना पडेगा। हमारी संमतिसे ऐतरेय आरण्यक और ऐतरेय उपनिषद् में 'नदत्' पद नहीं है। इसलिये हमने यह पद दिया नहीं है। तथापि जो मानते हैं उनका पक्ष यह है यह बतानेके लिये इतना लिखाना पडा।

'नदत्' पद न माननेपर भी (तत् एतत् अन्नं अभिसृष्टं) वह अन्न उत्पन्न होनेके बाद (पराङ् अत्यजिघांसत्) पीछे हटने लगा, पीछे जाने लगा। ये पद भी हलचल करनेवाले अन्न के वाचक दीखते हैं। 'पराङ्' पीछे जाते हुए 'अति' अत्यंत 'अजिघांसत्' शत्रुको मारनेकी इच्छा करते करते पीछे हट रहा। ऐसा इसका पदशः अर्थ है। यह अर्थ लोग लेते हैं

और बिल्लीका अन्न मूषक है, वह बिल्लीको देखकर भागता है, यह उदाहरण देकर श्री सायनाचार्य और श्री शंकराचार्यजीने ऐसा अर्थ किया है। इस विषयमें इतना ही कहना उचित है कि विश्वमें सृष्टि नियमानुसार जलसे प्रथम वनस्पति सृष्टी होगयी और पश्चात् प्राणीसृष्टी हुई है। अर्थात् वनस्पतिरूप अन्न प्रथम हुआ और प्राणीरूप पीछेसे हुआ है। इसलिये वनस्पतिरूप अन्न उत्पन्न होते ही जो भागने लगा, पीछे हटने लगा, वह एक आलंकारिक कल्पना है। जिस समय प्राणी बने और उनमें मांसाहारी प्राणी हुए, तब वे दूसरे प्राणियोंको खाने लगे। यह पीछे की बात है। इस कारण प्रारंभसे ही अन्न सजीव था, ऐसा इससे नहीं हो सकता।

विश्वमें स्वभावतः शाकाहारी और स्वभावतः मांसाहारी ऐसे दो प्रकारके प्राणी हैं। परमेश्वरने जिसका जो भोजन था वह उसके लिये बनाया। मनुष्य उत्पन्न होनेके पूर्वही ये दोनों प्रकारका भोजन करनेवाले प्राणी थे। जलमें छोटी मछली को बडी मछली खाती थी और बडी मछलीको देखकर छोटी मछली–उस बडी मछलीका अन्न–उससे दूर भागता था। यह व्यवहार चल ही रहा था।

यही प्रारंभिक स्वाभाविक वर्णन इस स्थान पर किया है। इस अन्नको वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, मन, शिस्न इन सात साधनोंसे उस प्राणीने पकडना चाहा। पर इन साधनोंसे वह प्राणी अन्नको पकड न सका। अन्तमें अपान वायुसे उस अन्नको उसने पकडना चाहा। उससे उसने अन्नको पकड लिया।

अन्नमय प्राण

यहां 'अपान' शब्दका अर्थ 'मुखछिद्र' ऐसा श्री शंकराचार्य करते हैं। अपान और प्राण के स्थान शरीरमें निश्चित हैं। प्राण छातीसे ऊपर और अपान नाभीसे नीचे की ओर संचार करता है। विशेषतः अपान अच्छा रहा तो भूख लगती है, अन्न लेनेकी इच्छा होती है। अपान प्रकु-

पित हुआ, तो पेटके नीचे का भाग अस्वस्थ हो जाता है और अन्नका ग्रहण भी करनेकी इच्छा नहीं होती। इसलिये अपान अन्नका ग्रहण करता है ऐसा यहां कहा है। प्रत्येक मनुष्यका यह अनुभव है। अस्तु, इसका तात्पर्य यह है कि मलमूत्र त्याग यह अपानका कार्य ठीक होता रहा, तो पेटमें अन्न जाता है और पचन होता है और वह अपानका कार्य ठीक न चला तो पेट फूलता है और अन्नका ग्रहण अशक्य होता है। इसलिये अपानने अन्नका ग्रहण किया ऐसा यहां कहा है। अपान पद यहां प्राणोंका उपलक्षण है और प्राण वायु ही है। शरीरमें वायु अन्नको लेता पचन करता और सब शरीरमें लेजाकर सब शरीरको पुष्ट करता है।

इसलिये इसी स्थानपर आगे कहा है कि "सःएषः अन्नग्रहो यत् वायुः, अन्नायुः वै एष यत् वायुः" वह यह अन्नका ग्रहण करनेवाला वायु अर्थात् प्राण है। वास्तविक यह वायु ही अन्नके साथ युक्त होनेवाला है। प्राणोंकी गति ठीक रही तो अन्न स्वीकारने की इच्छा होती है, पेटमें गया अन्न पचन होता है और शरीर स्वस्थ रहता है। इसलिये यह प्राण ही अन्न लेनेवाला है और प्राणोंमें भी अपान अन्न ग्रहणके कार्यके लिये मुख्य है।

आत्माका आधार

(स ईक्षत) उस आत्माने-उस व्यापक आत्माने सोचा कि (मदृते इदं कथं नु स्यात् ?) मेरे विना यह कैसे टिकेगा ? अर्थात् यह शरीर इस शरीरमें सब इंद्रियाँ और इन इंद्रियोंमें रहनेवाली सब देवताएं यह सब जो शक्तिसंघात है वह मेरे विना, अर्थात् आत्माके विना किस तरह टिक सकेगा ? आत्मा इस शरीरमें जिस समयतक रहता है, तब तक ही यह सब ठीक अवस्थामें रहता है। आत्मा चला गया, तो उसके साथ प्राण चला जाता है और यहां कोई शक्ति कार्य करने योग्य नहीं रहती। इसलिये शरीर और इंद्रियोंकी स्थिति आत्माकी अवस्थितिपर अवलंबित है। यह इस व्यापक आत्माने देख लिया और इसमें प्रविष्ट होनेके लिये वह योग्य

मार्ग देखने लगा ।

(सः ईक्षत, कतरेण प्रपद्यै इति) उस व्यापक आत्माने सोचा कि किस मार्गसे मैं प्रवेश करूं ? (सः ईक्षत) उसने फिर सोचा कि यदि मेरे विना ही वाणी बोल सकेगी, प्राण जीवन रख सकेगा, आंख देख सकेगी, कान सुन सकेगा, त्वचा स्पर्श कर सकेगी, मन ध्यान कर सकेगा, अपान अन्न ग्रहण कर सकेगा, शिस्न वीर्य छोड सकेगा, तो फिर (कः अहं ?) मैं यहां कौन हूं, यहाँ मेरा कार्य क्या है ? यदि सब इंद्रिय अपने अपने कार्य कर सकेंगे, तो आत्माका अस्तित्व माननेकी क्या आवश्यकता है ? पर आत्माके विना कोई इंद्रिय कार्य नहीं कर सकता, सब इंद्रिय आत्मा रहनेतक ही कार्य कर सकते हैं, आत्मा की शक्ति प्राप्त करके ही सब इंद्रिय कार्य करते हैं, इसलिये इस शरीरमें जिस तरह इन्द्रियोंमें दैवी शक्तियों का प्रवेश हुआ है, उसी तरह इस शरीरमें आत्माका भी प्रवेश होना चाहिये । अग्नि, सूर्य, वायु आदि देवताओंके अंश आकर जैसे यहां इस शरीरमें रहे हैं, वैसा परमात्माका अंश भी आकर यहां रहना चाहिये । तब उसकी शक्तिसे सब अन्य देवता कार्य कर सकेंगे । इस तरह सोच कर उस परमात्माने इस शरीरमें अपने अंशसे प्रवेश करनेका निश्चय किया ।

तत् सृष्ट्वा तत् एव अनुप्राविशत् ।
तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् ॥ तै० उ० २।६

उसने इसको उत्पन्न करके, उसीमें प्रवेश किया और उसमें प्रविष्ट होकर सत् और तत् अर्थात् आत्मा और शरीररूप बना । ' तद्रूप बनकर रहा । इस वर्णन के अनुसार यह परमात्मा अपने अंशसे इस शरीरमें प्रविष्ट हुआ और वहां रहकर, वहां रहनेके लिये आये सब देवताओंके अंशोंको अपने साथ आकर्षण करके रखने लगा । गीतामें ' परमात्माका अंश जीव बनकर इस जीव लोकमें रहने लगा ' ऐसा जो कहा है, वही यहां कहा है । यह किस तरह किस मार्गसे शरीरमें प्रविष्ट हुआ इसका वर्णन आगे करते हैं—

आत्माके प्रवेशका मार्ग

(स एतं एव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत) वह परमात्मा इस सीमाको खोल कर इस द्वारसे प्रविष्ट हुआ। अर्थात् परमात्माका अंश

जो जीवात्मा कहलाता है वह सिरके अन्दरके ब्रह्मरन्ध्र के विदृति नामक द्वारसे अन्दर प्रविष्ट हुआ। (सा एषा विदृतिः नाम द्वाः) यह विदृति नामक द्वार है। आत्माने स्वयं इस मार्गको बनाया है इसलिये यह इसका अद्भुत कौशल्य है। (तत् एतत् नान्दनं) यह नन्दन अर्थात् आनन्द देनेवाला स्थान है। परम आनन्द यहां प्राप्त होता है। स्वर्गका नन्दन वन नामक उद्यान यही है। सब सुख, सब आनन्द इस स्थानमें अनुभवमें आते हैं। जब एकाग्र होकर स्वरूपमें आत्मा रहता है, तब वह यहां रहता है और परम आनंदका अनुभव करता है।
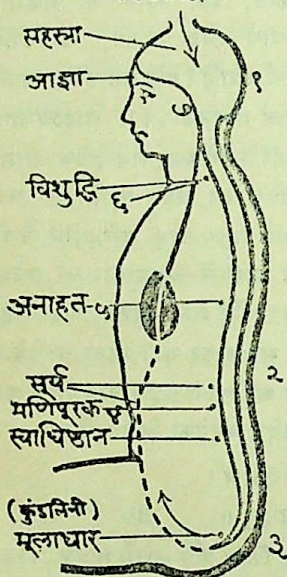
(तस्य त्रय आवसथाः) उस आत्माके तीन स्थान हैं। (अयं आवसथः, अयं आवसथः, अयं आवसथः) यह एक, यह दूसरा और यह तीसरा स्थान है। एक आंख है, दूसरा कण्ठ है और तीसरा हृदय है। आंखमें आत्माका अस्तित्व देखतेही प्रतीत होता है, हृदयमें कम्पनसे भी आत्माका अस्तित्व प्रतीत होता है। आंख जाग्रतीका स्थान, कण्ठ स्वप्नका और हृदय सुषुप्ती

का स्थान है। (त्रयः स्वप्नाः) ये तीन स्वप्न हैं अर्थात् आराम प्राप्त करने-के स्थान हैं। विश्राम प्राप्त करनेके स्थान हैं। उत्तम स्वास्थ्यके आनन्द के समय आंख प्रफुल्लित दीखती है, उत्तम सुषुप्तिका आनन्द हृदयमें अनुभव होता है। स्वप्न मध्यम स्थान है और यहां हृदय और आंखके मध्यमें कण्ठस्थान है। इन स्थानोंमें आत्मा आराम, विश्राम और प्रसन्नताका अनुभव करता है। इस तरह यह आत्मा इस शरीरमें रहने लगा। यह इस शरीरका अधिष्ठाता बना। तैंतीस देवताओंके तैंतीस अंश और परब्रह्मका यह अंश मिलकर चौंतीस तत्त्व यहां हैं। यह ब्रह्मका अंश अन्य तैंतीस देवोंको आकर्षित करके अपने साथ धारण करता है। जहां यह जाता है वहां वे तैंतीस देवोंके अंश इसके साथ जाते हैं और जहां वह रहता है वहां उसके साथ ये तैंतीस देवतांश रहते हैं। इसलिये इस आत्माको मधुकरराजा और इन्द्रियोंको मधुमक्खियां कहा है—

तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानं उत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते एवं वाङ् मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। प्रश्न उ. २।४

'जिस तरह मधुमक्खियोंका राजा उठनेपर अन्य मधुमक्खियां उसके साथही उठ जाती हैं और उसके बैठनेपर उसके साथ बैठतीं हैं, उस तरह वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्र आदि इंद्रियाँ प्राण तथा आत्माके साथ इस शरीरमें आतीं और जातीं हैं।'

इस तरह इस देवताओंके राजाका निवास यहां इस शरीरमें हुआ और सब देवताएं उसकी सभामें बैठने लगी। यह शरीर ही इस तरह देवताओं-का मंदिर है और यही देवसभा है और यहांका सम्राट् यह आत्मा है। इस रीतिसे यह आत्मा और सब दैवी शक्तियां इस शरीरमें आकर रहती हैं और यहांका सब कार्य करती हैं।

विश्वसेवारूप यज्ञ

यहां प्रत्येक मनुष्य देखे कि मेरा संबंध इस विश्वके साथ कैसा है, मेरे आंखोंका संबंध सूर्यसे है, प्राणका संबंध वायुसे है, कानोंका संबंध दिशाओंसे है, रसना जिह्वाका संबंध जलसे है, वाणीका संबंध अग्निसे है, शरीरका संबंध अन्न तथा वनस्पतियोंसे है। शरीरके स्थूल भागका संबंध पृथ्वीतत्वसे है। इस तरह शरीरका विश्वसे संबंध है। यह संबंध पिता पुत्रवत् है यह अथर्वश्रुतिके आधारसे इससे पूर्व बताया है। अंश अंशी संबंध यहां है। साधक अपने आपको यहां विश्वका अंश माने। विश्वका आश्रय मिलनेसे मैं रहता हूं और इस संबंध की त्रुटी होनेसे मेरी मृत्यु होती है। यह संबंध पाठक यहां पुनः पुनः देखें। विश्वके आश्रयसे मैं जीवित रहता हूं, इसलिये मुझे जीवित रहनेतक विश्वसेवारूपी यज्ञ करना चाहिये। विश्वसेवा न करते हुए केवल आत्मभोग का जीवन व्यतीत करना यह अपराध है। इस तरह से यह पुरुष इस शरीरमें जन्मा है।

व्यापक एक ब्रह्म

(सः जातः भूतानि अभिव्यख्यत्) पूर्वोक्त प्रकार यह पुरुष उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होते ही सब भूतोंको- सब प्राणियों को उसने देखा, सबका निरीक्षण किया। (किं इह अन्यं वावदिषत्) और उसने कहा कि ' यहां मुझसे भिन्न कौन है ? ' यदि कोई हो तो वह कहे, मुझसे भिन्न यहां कोई है ? कोई नहीं, इस तरह सोचते सोचते उसने (स एतं एव पुरुषं ब्रह्म ततमं अपश्यत्) उसने इसी पुरुषको सर्वत्र फैला हुआ ब्रह्म देख लिया। सोचनेसे उसे विदित हुआ कि यही पुरुष (ततमं ब्रह्म) फैला हुआ व्यापक ब्रह्म है। यह उसके सोचने और मनन करनेसे उसे साक्षात्कार हुआ।

ये पुरुषे ब्रह्मविदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्। अथर्व.

' जो पुरुषमें ब्रह्म देखते हैं वे परमेष्ठीको जानते हैं ' इस तरह उस आत्माने (पुरुषं ततमं ब्रह्म) पुरुषको व्यापक ब्रह्म रूपमें साक्षात्कार करके देख लिया और उसका निश्चय हुआ कि एकही यह ब्रह्मस्वरूप आत्मा चारों ओर फैला है । यह साक्षात्कार होते ही उसने घोषणा करके उच्च स्वरसे कहा कि—

' इदं अदर्शं इति ३ '

' ओ हो ! इसको देख लिया है मैंनें ' ऐसा उसने आनन्दसे कहा । निश्चित स्वरसे कहा । इसके कहनेमें ' इदं अदर्शं ' ये पद आये । उसका ' इदं दर्शं ' हुआ और शीघ्रतासे बोलनेपर ' इदंदर ' हुआ, तथा इसीका ' इदंद्र ' हुआ । इस व्यापक बडे ब्रह्मको देखनेवाला जो है वही ' इदन्द्र ' है, इसको ही गुप्तभावसे ' इन्द्र ' कहते हैं । ' इदमदर्शं ' पहिले था, इसीका क्रमसे ' इदंदर्श ' ' इदंदर् ' ' इदन्द्र ' हुआ । यही नाम इस देखनेवाले का इस कारण जगत्में प्रसिद्ध हुआ । तात्पर्य यह आत्मा इन्द्र है और अन्य देवताएं उसकी सभामें हैं । यही देवोंका राजा इन्द्र है और यहाँ यही देवसभा है । यह अपनाही वैभव अपने शरीरमें देखने योग्य है ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

प्रथमः खण्डः (क्रमेण चतुर्थःखण्डः)

(अपक्रामन्तु गर्भिण्यः)

ॐ पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद्रेत-स्तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति, तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति, यथा स्वमङ्गं तथा, तस्मादेनां न हिनस्ति, साऽस्यैतमात्मानमत्रगतं भावयति॥२॥

सा भावयित्री भावयितव्या भवति, तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति, स यत् कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति, आत्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां संतत्या, एवं संतता हीमे लोकाः तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥

(अपक्रामन्तु गर्भिण्यः) गर्भिणी स्त्रियां दूर जांय । अर्थात् यह न सुनें । (पुरुषे ह वै अयं आदितः गर्भः भवति) निःसन्देह पुरुषमें प्रथम यह गर्भ होता है, (यत् एतत् रेतः) जो यह वीर्य कहलाता है । (तत् एतत् सर्वेभ्यः अंगेभ्यः तेजः संभूतं) वह यह वीर्य पुरुषके संपूर्ण अंगोंसे इकट्ठा हुआ तेज ही है, (आत्मनि एव आत्मानं बिभर्ति) वह पुरुष अपनेमें ही इस वीर्यरूपी आत्माको गर्भरूप से अपने अन्दर धारण करता है। (यदा तत्

स्त्रियां सिंचाति) जब वह उस वीर्यका सिंचन स्त्रीमें करता है, (अथ एनत् जनयति) तब वह पिता इसको, वीर्यरूपी पुत्रको-जन्म देता है। (तत् अस्य प्रथमं जन्म) वह पुरुषके अन्दरसे निकलना वीर्यनिवासी जीवका पहिला जन्म है ॥ १ ॥

(तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति) तब वह वीर्य स्त्रीके शरीरके साथ आत्मरूप होकर रहता है, (यथा स्वं अंगं तथा) जैसा अपना अंग ही है। वैसा होकर वह रहता है। (तस्मात् एनां न हिनस्ति) इसलिये वह वीर्य इस स्त्रीको बाधा नहीं पहुंचाता) (सा एनं आत्मानं अत्रगतं भावयति) वह स्त्री इस पतिको आत्मारूपी पुत्रको अपने अन्दर आनेपर पोषण करती है ॥ २ ॥

(सा भावयित्री भावयितव्या भवति) वह स्त्री गर्भस्थ पुत्रका पोषण करती है इसलिये विशेष रीतिसे पोषण करने योग्य होती है। (स्त्री तं गर्भं बिभर्ति) स्त्री उस गर्भका धारण करती है। (सः अग्रे एव कुमारं जन्मनः अग्रे अधिभावयति) वह पिता जन्मके पूर्व और पश्चात् उस कुमारका विशेष रूपसे पोषण करता है। (सः यत् कुमारं जन्मनो अग्रे अधिभावयति) वह पिता जो उस कुमारको जन्मके पहिलेसे पोषण करता है, वह मानो (आत्मानं एव तत् भावयति) अपने आपका ही वह पोषण करता है। (एषां लोकानां संतत्यै) वह इन लोगोंकी संतति बढानेके लिये वैसा करता है । (एवं संतता हि इमे लोकाः) इस तरह संतति इन लोगोंमें बढ रही है। (तत् अस्य द्वितीयं जन्म) वह इसका दूसरा जन्म है ॥ ३ ॥

(१—२) पुरुषके अन्दर वीर्य उत्पन्न होना मानो उस पुरुषके सब अंगों और इंद्रियों का तेज ही इकट्ठा हुआ है। सब शरीरका वह सार ही है। यह वीर्य क्या है, वह पिताका साररूप आत्मा ही है । पिता इसको

अपने अन्दर धारण करता है । यह पिताके शरीरमें एक प्रकार का गर्भ ही है । पिता योग्य समयमें उस अपने शरीरके अन्दरके वीर्यरूप गर्भको स्त्रीके गर्भाशयमें रखता है । जब वह स्त्रीके शरीरमें उतरता है, तब वह स्त्रीके शरीरका एक अवयव जैसा होकर रहता है। यह पिताका पहिला जन्म है ।

स्त्री के उदरमें जाकर यह पिताका वीर्यरूपी पुत्र स्त्री के शरीरका एक अवयव जैसा रहता है । उससे स्त्रीको किसी भी प्रकार कष्ट नहीं होते, इसका कारण इतना ही है कि वह स्त्रीके शरीरका भाग करके ही वहां रहता है । वह गर्भ स्त्रीके गर्भाशयमें स्त्रीके शरीरके रसरक्तसे पोषण को प्राप्त करता है और बढता रहता है ।

गर्भवतीका उत्तम पोषण हो

(३) स्त्रीके अन्दर गर्भ रहता है । उस गर्भका पोषण स्त्रीके शरीरके पोषक द्रव्योंसे होता रहता है । इसलिये गर्भवती अवस्थामें स्त्रीका विशेष रीतिसे पोषण होना चाहिये । यह बडी अच्छी बात यहां कही है । गर्भवती स्त्रीका अच्छा पोषण हुआ तो गर्भ पुष्ट होगा और जातीका पुत्र अच्छा हृष्टपुष्ट बनेगा। जातीकी अथवा राष्ट्रकी संतान अच्छी तरह हृष्टपुष्ट तथा वीर उत्पन्न होनी चाहिये । संतति की ओर दुर्लक्ष्य नहीं होना चाहिये । पतिपत्नी अच्छे नीरोग और सुदृढ हों, उनको उत्तम वीर पुत्र हों । मातापिता दीर्घजीवी बने । यह यहां कहा है । उपनिषद्की विद्या जातीका उच्छेद नहीं करना चाहती, परंतु जातीका संवर्धन करना चाहती है ।

आगे और देखिये-गर्भ स्त्रीके गर्भाशयमें रहनेके पूर्व ही वह वीर्यरूपी गर्भ पिताके शरीरमें रहता है । वहां वह अच्छा पुष्ट होता रहना चाहिये । संततिकी पालना पिताके शरीरमें प्रथम, और पश्चात् माताके शरीरमें होनी चाहिये । कितना उत्तम उपदेश गृहस्थियोंको यहां दिया है, देखिये । स्त्रीसे

उदरमें रहे गर्भका पोषण करनेका अर्थ अपना-पिताका ही पोषण करना है। क्योंकि ' आत्मा वै पुत्रनामा असि ' पिता ही पुत्ररूपसे जन्म लेता है।

पिता ही पुत्र है

पतिर्भार्यां प्रविशति गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः।

मनु. ९।८

' पति भार्यामें वीर्यरूपसे प्रवेश करता है और पति ही पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, इसलिये स्त्रीको जाया कहते हैं क्योंकि इसमें पति स्वयं जन्म लेता है। ' यही यहां कहा है। (यत् कुमारं अधिभावयति आत्मानं एव तत् भावयति) जो पुत्रकी पालना की जाती है वह अपनी ही पालना समझनी चाहिये। प्रजाकी वृद्धि होनी चाहिये। संततिका उच्छेद नहीं होना चाहिये। जातीकी संख्या और जातीका सत्त्व बढना चाहिये। पुत्र ही पिताका प्रतिनिधी होता है और पिताके अपूर्ण रहे शुभ कार्य समाप्त करता है। इससे पिता कृतकृत्य होता है। शुभ पुत्रसे पिताका जीवन सफल होता है।

सोऽस्याऽयमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथाऽस्याऽयमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते। तदस्य तृतीयं जन्म। तदुक्तमृषिणा ॥ ४ ॥

(सः अस्य अयं आत्मा) वह इस पिताका यह पुत्ररूप आत्मा (पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते) पिताके पुण्यकर्म समाप्त

करनेके लिये प्रतिनिधी होता है। (अथ अस्य अयं इतरः आत्मा) अब इस पिताका यह दूसरा आत्मा (वयोगतः कृतकृत्यः प्रैति) अपनी पूर्ण आयुको प्राप्त होकर कृतकृत्य होकर इस लोकसे चल देता है। (सः इतः प्रयत् एव पुनः जायते) वह यहांसे चलते ही फिर जन्म लेता है। (तत् अस्य तृतीयं जन्म) वह इसका तीसरा जन्म है। (तत् उक्तं ऋषिणा) वैसा ही ऋषिने कहा है ॥ ४ ॥

पिताका प्रतिनिधि

(४) पिताके अधूरे रहे शुभ कर्म यथासांग समाप्त करना पुत्रका कर्तव्य है। इससे पिता कृतकृत्य होता है। पिताका जीवन सफल होता है। अपने जैसा सुयोग्य पुत्र देखकर पिताको संतोष होता है। उसको निश्चय होता है कि वह मेरे कर्म सफल करेगा। जिसको ऐसा पुत्र होगा उस पिताको अपने पुत्रकी ओर देखकर कितनी कृतकृत्यता प्रतीत होती होगी। इसका क्या वर्णन किया जायगा। ऐसे पुत्र उत्पन्न करने चाहिये यह आशय यहां है।

ऐसे सुपुत्रका पिता अतिदीर्घ आयुतक जीता रहता है, शुभ कर्म करता है, जीवन सफल करता है। अपने उत्तम पुत्रको देखकर उसका समाधान होता है। पूर्ण आयुकी समाप्तिके नंतर उसका देहपात होता है और यहां से चला जाता है। पर जाते ही वह पुनः जन्म लेता है। यह उस पिताका तीसरा जन्म है।

पिताका दूसरा जन्म तो पुत्ररूपसे हुआ। और उस अपनी मृत्युके पश्चात् जो उसका जन्म होगा वह उसका तीसरा जन्म होगा।

इस तरह यह इस उपनिषद्का उपदेश हरएक गृहस्थीको मनन करने योग्य है।

'गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा । शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम् ' इति । गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्याऽमुष्मिन् त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् ॥६॥

इति प्रथमः खण्डः । इति द्वितीयोऽध्यायः ।

"(गर्भे नु सन् अहं) गर्भमें रहते हुए मैंने (एषां देवानां विश्वा जनिमानि) इन देवोंके सपूण जन्मवृत्तान्तोंको (अनु अवेदं) जान लिया था। पहिले (आयसीः शतं पुरः अरक्षन्) लोहेके सौ कीले मेरा संरक्षण कर रहे थे, (अधः श्येनः जवसा निरदीयं) अब मैं श्येन पक्षीके समान खुली रीतिसे भ्रमण करता हूँ।" (गर्भे एव शयानः वामदेवः एतत् एवं उवाच) गर्भ में रहते हुए वामदेव ऋषिने यह ऐसा कहा था ॥ ५ ॥

(सः एवं विद्वान्) वह ऐसा विद्वान वामदेव ऋषि (अस्मात् शरीरभेदात् ऊर्ध्वः उत्क्रम्य) इन शरीर भेदोंसे ऊपर उठकर (अमुष्मिन् स्वर्गे लोके) उस स्वर्गलोक में , सर्वान् कामान् आप्त्वा) सब भोगोंका प्राप्त करके (अमृतः समभवत् समभवत्) अमर होगया, निःसंदह अमर होगया ॥ ६ ॥

(५--६) वामदेव ऋषिका यह मंत्र ऋ० मं. ४।२७।१ इस स्थानमें है। चतुर्थमण्डल वामदेव का मण्डल है। इस ऋषिको गर्भमें ही यह ज्ञान हुआ ऐसा यहां कहा है। वह इस मंत्रमें कहता है कि मैंने गर्भमें रहते हुए ही देवोंके इस शरीरमें जन्म किस तरह होते हैं, यह सब जान लिया

था। शरीर क्या है, इसमें इंद्रिय स्थानोंमें अग्नि सूर्य वायु आदि देवोंके अंश किस तरह आते हैं, यहां रहते हैं और कैसे कार्य करते हैं यह सब मैंने जान लिया था। आत्मा उनका अधिष्ठाता कैसा होता है उसकी शक्तिसे सब देव किस तरह कार्य करते हैं यह सब ज्ञान मुझे होगया है। इस ज्ञान होनेसे यह चमत्कार हुआ कि जो यह ज्ञान होनेके पूर्व सौ लोहेके बने कीले मेरे संरक्षणके लिये लगते थे, उनकी अब कोई आवश्यकता नहीं रही और मैं श्येन पक्षीके समान स्वेच्छासे सर्वत्र विचर रहा हूं। अब मेरे लिये कोई प्रतिबंध नहीं रहा है। जो ज्ञानी बनेगा वह ऐसा ही स्वतंत्र बनेगा।

वामदेव ऋषिको यह ज्ञान हुआ। इस ज्ञानसे वह इन शरीरोंके बंधनोंसे विमुक्त होकर अमर होगया। तथा इसको स्वर्गके सब भोग भी प्राप्त हुए। अजी! वह निःसंदेह अमर होगया, सचमुच अमर होगया। इस ज्ञानका यह प्रभाव है।

द्वितीयाध्यायका प्रथम खण्ड समाप्त। द्वितीय अध्याय समाप्त।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

अथ प्रथमः खण्डः

(यथास्थानं तु गर्भिण्यः)

ॐ कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे । 'कतरः स आत्मा' । येन वा रूपं पश्यति, येन वा शब्दं शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥२॥

(यथास्थानं तु गर्भिण्यः) अब गर्भवती स्त्रियां अपने अपने स्थानोंपर आकर बैठ जांय । (अयं आत्मा इति) यह आत्मा है, ऐसी (वयं उपास्महे) हम जिसकी उपासना करते हैं वह (कः अयं) यह आत्मा कौन है ? (कतरः स आत्मा) कौनसा वह आत्मा है कि (येन वा रूपं पश्यति) जिससे रूप देखता है । (येन वा शब्दं शृणोति) जिससे शब्द सुनता है, (येन वा गन्धान् आजिघ्रति) जिससे गन्धोंको सूंघता है, (येन वाचं व्याकरोति) जिससे वाणी प्रकट होती है (येना वा स्वादु च अस्वादु च विजानाति) जिससे स्वादु अथवा अस्वादुका ज्ञान प्राप्त करता है ॥ १ ॥

(यत् एतत् हृदयं मनः च एतत्) जो यह हृदय है वह मन ही है । (संज्ञानं) उत्तम ज्ञान, (आज्ञानं) स्वामी होकर आज्ञा

करना, (विज्ञान) सब पदार्थोंका ज्ञान, (प्रज्ञान) सबका विशेष ज्ञान, (मेधा) धारणावती बुद्धि, (दृष्टिः) दर्शन शक्ति, देखनेकी शक्ति, (धृतिः) धैर्य, (मति) मनन करनेकी शक्ति, (मनीषा) इच्छा, (जूतिः) वेग वा प्रयत्न, (स्मृतिः) स्मरण (संकल्प) मन में किसी विषयकी इच्छा करना, (क्रतुः) कर्म यज्ञ, (असुः) प्राण जीवन, (काम) भोगकी इच्छा, (वशः) वशमें रखनेकी इच्छा (इति सर्वाणि एतानि) ये सब (प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति) प्रज्ञानके ही नाम हैं ॥ २ ॥

अन्तःकरणमें जो आत्मशक्ति है उसकी स्वाभाविक शक्तिके ही ये नाम है। क्योंकि उसकी शक्तिसे ही यह सब होता रहता है। आत्मा ही अपनी शक्तिसे यह सब करता है। आत्माका ही स्वरूप प्रज्ञान है। अतः आगे कहा है—

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत् किंचेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्। प्रज्ञानेत्रो लोकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठिता; प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्याऽमुष्मिन् स्वर्गे

लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत, समभवत; इत्योम् ॥ ४ ॥

इति प्रथमः खण्डः । इति तृतीयोऽध्यायः । क्रमेण पञ्चमः खण्डः ।

इत्यैतरेयोपनिषत्समाप्ता ।

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठित-माविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः । श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि, तन्मामवतु, तद्वक्तारमवतु, अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

(एष ब्रह्मा) यह प्रज्ञानस्वरूप जो है वही ब्रह्मा है, (एष इन्द्रः) यह इन्द्र है, (एष प्रजापतिः) यह प्रजापति है, (एते सर्वे देवाः) यही सारे अग्नि आदि सब देव हैं, (इमानि च पञ्च महाभूतानि) ये पांच महाभूत जिनको पृथिवी आप् ज्योति वायु आकाश कहा जाता है, तथा (एतानि इमानि च क्षुद्र-मिश्राणि) वे ये जो क्षुद्र प्राणी हैं तथा (इतराणि च बीजानि) जो अन्य बीज हैं, तथा जो (इतराणि च अण्डजानि) अन्य अण्डज, (च जारुजानि) जेरीसे उत्पन्न होनेवाले (स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च) स्वेदसे उत्पन्न होनेवाले और जो उद्भिज्ज हैं, ये सबके सब, इसी तरह (अश्वाः गावः) घोडे, गौवें, (पुरुषाः) पुरुष, मनुष्य (हस्तिनः) हाथी, (यत् किंच इदं प्राणि) जो

कुछभी यहां प्राणियों का समूह है, (जंगमं च पतत्रि च) जंगम और पक्षीरूप है, (यत् च स्थावरं) जो स्थावर हैं, यह सब (प्रज्ञानेत्रं) प्रज्ञानसे चलाया जानेवाला है, प्रज्ञानस्वरूप आत्मासे चलाया जाता है (प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं) यह सब प्रज्ञानके आधारसे रहा हैं। (प्रज्ञानेत्रो लोकः) यह लोक ही प्रज्ञानसे चलाया जाता है। (प्रज्ञा प्रतिष्ठिता) प्रज्ञा ही इसका आधार हैं। (प्रज्ञानं ब्रह्म) प्रज्ञान ही ब्रह्म हैं ॥ ३ ॥

(स एतेन प्रज्ञेन आत्मना) वह वामदेव इस प्रज्ञानस्वरूप आत्मासे (अस्मात् लोकात् उत्क्रम्य) इस लोकसे उत्क्रान्त होकर (अमुष्मिन् स्वर्गे लोके) उस स्वर्गलोक में (सर्वान् कामान् आप्त्वा) सब कामनाओंको प्राप्त करके (अमृतः समभवत्) अमर हो गया, (समभवत्) निःसंदेह अमर हो गया । (इति ओं) यह सत्य है ॥ ४ ॥

प्रथमखण्डके साथ तृतीय अध्याय समाप्त ।

ऐतरेय उपनिषद् समाप्त

" ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता० " इति शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

आत्माका स्वरूप

आत्माका स्वरूप क्या है इसका विचार यहां किया है । जिसकी शक्तिसे मनुष्य रूपको देखता है, शब्दको सुनता है, गन्धका ग्रहण करता है, वाणी बोलता है, मीठे या कडुवे स्वादका ज्ञान प्राप्त करता है, यह जिसकी शक्तिसे होता है वह आत्मा है । शरीरमें आत्मा रहनेतक ही यहां की सब इंद्रियां अपना कार्य करनेमें समर्थ होती हैं। जिस समय इस शरीरसे आत्मा पृथक् होता है, उस समयसे कोई इन्द्रिय अपना कार्य कर नहीं सकती । इसलिये कहा है कि जिससे इन्द्रिय अपना कार्य करनेमें समर्थ होती है वह आत्मा है और वही हमारा उपास्य है ।

मनन शक्ति, ज्ञान, विज्ञान, हृदयका प्रेम, मेधा, स्मृति, धैर्य, बुद्धि, मति, संकल्प, कर्मशक्ति, काम इच्छा आदि जो मनुष्यके व्यवहारमें अनुभव होते हैं वे सबके सब प्रज्ञानके ही रूप हैं। और यह प्रज्ञान आत्माका रूप है। प्रज्ञान ही ब्रह्म है, प्रज्ञानही आत्मा है, इसलिये शरीरमें आत्मा रहनेतक ज्ञान विज्ञान स्मृति कर्म काम आदि मनुष्य कर सकता है। आत्माके पृथक् होनेपर मनुष्यका शरीर केवल जड बनता है और संकल्प विकल्प नहीं कर सकता।

यह ब्रह्म अथवा आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानही आत्मा है। यह ब्रह्मा अर्थात् ज्ञानविज्ञानरूप ब्राह्मण है, यह ज्ञान ही इन्द्र अर्थात् शत्रुनाश करनेवाले क्षत्रिय है। यह ज्ञानही प्रजापति अर्थात् प्रजाका पालन करने वाले राज्यशासनके अधिकारी हैं। यह प्रज्ञानही पंचमहाभूत, स्थावर जंगम जोभी यहां है वह सब प्रज्ञान ही है। यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है। प्रज्ञानही सब कुछ है। ज्ञानी, शूरवीर, व्यापार, व्यवहार करनेवाले, और कर्मचारी, तथा सब पशुपक्षी भी प्रज्ञाके ही रूप हैं। यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है। प्रज्ञान ही सब कुछ है। प्रज्ञान सब विश्वका आधार, प्रज्ञान ही मानवी प्रगति करनेवाला है। मनुष्यका सर्वस्व प्रज्ञान है।

इस प्रज्ञानसे मनुष्य यहांके सब सुख प्राप्त कर सकता है और अमर भी इसीसे हो सकता है प्रज्ञानका यह महत्त्व मनुष्य जाने और प्रज्ञान प्राप्त करके इस लोकमें सुख प्राप्त करे और अमर होकर आनन्दसे विचरे।

ऐतरेय उपनिषद्का मुख्य ध्येय

ऐतरेय उपनिषद का मुख्य ध्येय " यहां पृथ्वीपर अपना उत्तम प्रतिनिधि रूपसे पुत्र उत्पन्न करके अमर बनना " है। इसलिये इस उपनिषदने सबसे प्रथम विश्वकी रचना कैसी होती है यह कहा। " प्रारंभमें एकही आत्मा था। इसीको परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म आदि कहते

हैं। उसने ये पृथिवी अन्तरिक्ष आकाश आदि लोक अथवा स्थान निर्माण किये। इसके पश्चात् इन लोकोंका पालन करनेवाले अग्नि वायु सूर्य आदि लोकपाल निर्माण किये। इन लोकपालोंको एक स्थानपर इकट्ठा होकर बैठकर विशेष कार्य करने के लिये कार्यक्षेत्र चाहिये, इसलिये इस मानव देह का निर्माण किया। इसमें इन सब लोकपालोंके अंश (अथवा पुत्र) आये और संघटित होकर सब मिलकर कार्य करने लगे। इनको भूख और प्यास सताने लगी, इसलिये अन्नभी तैयार किया गया। इस अन्न और जलसे सब देव इस शरीरमें सुखसे रहने लगे। आत्मा अथवा ईश्वरने अपना अंश (अथवा पुत्र) भी इस शरीरमें भेजा। वह आकर यहां का अधिष्ठाता बना और उसकी शक्तिसे सब देव अपने अपने कर्म उत्तम रीतिसे करने लगे। यह इस तरह उपनिवेश ही शुरू हुआ। "

"यह जो परमात्माका अंश है वह जीव आत्मा है और देवोंके अंश हैं वे इन्द्रिय हैं। आत्माको इन्द्र और देवताओंको इन्द्रिय शक्ति कहा जाता है। इस तरह इन्द्रकी देवसभा यहां है। इन्द्र और देव जहां रहते हैं वह देवसभा का स्थान स्वर्ग है। इसलिये इसको स्वर्गधाम बनानेका कार्य ही यहां करना चाहिये। साधकके सामने यही कार्यक्रम इस उपनिषदने रखा है। परमात्माका अंश आकर यहां जीव बना। वह सर्वत्र व्यापक आत्माको देखता है और वही (अंश रूपसे) मैं हूं यह ज्ञान उसको होता है और इस समय उसके सब संदेह दूर हो जाते हैं।"

"यह शरीर कैसा बनता है? इसका उत्तर यह है— अन्नसे शरीरमें वीर्य उत्पन्न होता है। इस वीर्य में पिताके शरीरके सब अंगों और अवयवों-का सत्त्व संग्रहित होकर रहता है। पिताही इस वीर्यबिन्दुमें समाया रहता है। वह वीर्य स्त्रीमें जाता है और दस मास गर्भमें रहकर पुत्र उत्पन्न होता है। पिता ही पुत्ररूपसे जन्म लेता है और वह बढकर पिता जैसा होता है। मनुष्य ज्ञानरूप ही है। जैसा ज्ञान वैसा मानव। इसलिये उत्तम पुत्र

निर्माण करके तथा उत्तम ज्ञान प्राप्त करके अमर बनना चाहिये। पुत्ररूपसे पिता अमर होता है और ज्ञानका प्रचार करनेसे तथा सर्वत्र एक आत्मा भरा है यह अनुभव होनेसे ज्ञानसे अमर होता है।"

इस तरह सुप्रजा निर्माण करना और सत्यज्ञानका प्रचार करना यह ध्येय इस उपनिषद्‌ने मानवोंके सामने रखा है।

उत्तम प्रजा निर्माण करना, उस प्रजाको उत्तम शिक्षा द्वारा ज्ञान विज्ञान संपन्न करके प्रज्ञावान् बनाना और अपने आरंभ किये शुभ कर्म अखण्ड संतति परंपरासे सतत होते रहें और यहां ही जीते जो सबको उत्तम सुख और अखण्ड आनंद प्राप्त हो यह इस उपनिषद्‌का ध्येय है।

संतानविच्छेद द्वारा संसारका उच्छेद करनेका ध्येय यहां नहीं है। कई लोग उपनिषदोंका ध्येय अशुद्ध विचार फैलने के कारण 'संतति विच्छेदन' और 'संसारका उच्छेदन' अर्थात् 'जन्म न होना' मानते हैं! वह यहां नहीं है। यहां शुभसंतान उत्पन्न करना ध्येय है। बृहदारण्यक उपनिषद में भी यही अन्तमें लिखा है। उत्तम संतानका निर्माण करना और संपूर्ण संसारको ज्ञान विज्ञानसे सुख और आनन्दसे परिपूर्ण बनाना यहां अभीष्ट है।

संततिसे और ज्ञानसे अमरत्व प्राप्त करनेका यही अर्थ है। संतति विच्छेद न हो, शुभ संतानपरंपरा चलती रहे और ज्ञानविज्ञानकी परंपरा भी सतत चलती रहे, तो अखण्ड सुख और आनंद प्राप्त होगा। यह सब परम पुरुषार्थसेही साध्य होनेवाला है।

व्यक्तिमें शान्ति, राष्ट्रमें शान्ति और विश्वमें शान्ति हो।

ऐतरेय उपनिषद् विवरण समाप्त।

ऐतरेय-उपनिषद्की

अनुक्रमणिका

सचित्र

वाल्मीकि रामायण

(१) बालकांड, (२-३) अयोध्याकांड २, (४) अरण्यकांड, (५) किष्किन्धाकांड, (६) सुंदरकांड, (७) युद्धकांड पूर्वार्ध ये ७ पुस्तक तैयार है। (८) युद्ध-कांड उत्तरार्ध छप रहा है।

रामायणके इस संस्करणमें पृष्ठके ऊपर श्लोक दिये हैं, पृष्ठके नीचे आधे भागमें उनका अर्थ दिया है और आवश्यक स्थानोंमें विस्तृत टिप्पणियां दी हैं। जहां पाठके विषयमें सन्देह है, वहां सत्य पाठ दर्शाया है।

इन काण्डोंमें रंगीन चित्र हैं और कई सादे चित्र हैं। जहांतक की जा सकती है, वहांतक चित्रोंसे बडी सजावट करी है।

इसका मूल्य— सात काण्डोंका प्रकाशन १० भागोंमें होगा। प्रत्येक भाग करीब करीब ५०० पृष्ठोंका होगा। प्रत्येक भागका मूल्य ४) रु. तथा डा. व्य. रजिस्ट्रीसमेत १।) होगा। यह सब व्यय ग्राहकोंके जिम्में रहेगा। प्रत्येक भागका मूल्य ४) रु. है, अर्थात् सब दसों भागोंका मूल्य ४०) रु और सबका डा. व्यय १०) रु. हैं।

मंत्री-- स्वाध्याय-मंडल, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

मूल्य ४) रु. है, अर्थात् सब दसों भागोंका मूल्य ४०) रु और सबका डा. व्यय १०) रु. हैं।

मंत्री-- स्वाध्याय-मंडल, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)